

ISSN 0972-1002

# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXV

No.III & IV

July-December-2014



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

Established : 1937



## ADVISORY BOARD

**Dr. Shugan C. Jain**

Chairman, ISJS, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**

Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Vallely**

Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**

SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**

Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**

Bheekhampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**

Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**

Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**

JNU, Delh

## EDITORIAL BOARD

**Prof. M.N.P. Tiwari**

B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**

B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**

New York, USA

**Prof. Viney Jain, Gurgaon**

**Dr. S. P. Pandey**

PV, Varanasi

**ISSN: 0972-1002**

**SUBSCRIPTION**

***Annual Membership***

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

***Life Membership***

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles can be sent in favour of**

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

***PUBLISHED BY***

**Shri Indrabhooti Barar**, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,  
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

✓**Email:** pvpvaranasi@gmail.com

**NOTE:** The facts and views expressed in the Journal are those of authors  
only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

Our Contributors	IV
1. सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव : आचार्य समन्तभद्र एवं महात्मा गाँधी—एक तुलनात्मक दृष्टि <i>प्रो० रामजी सिंह</i>	1-5
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सामान्य, विशेष तथा समवाय का कथंचिद् मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व <i>डॉ० धर्मचन्द जैन</i>	6-13
3. प्राचीन भारत में सिंचाई व्यवस्था (जैन साहित्य के विशेष संदर्भ में) <i>डॉ. अनुराधा सिंह</i>	14-18
4. लेश्या स्वरूप एवं विमर्श <i>डॉ. योगेश कुमार जैन</i> <i>डॉ. श्वेता जैन</i>	19-29
5. संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य—काव्यप्रकाशग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में <i>डॉ० सुमन कुमार झा</i>	30-44
6. जैन श्रमणी—संघ और नारी उत्थान <i>डॉ० शीला सिंह</i>	45-52
7. 'श्रमण परम्परा, अहिंसा एवं शान्ति' विषयक राष्ट्रीय कार्यशाला में प्रदत्त व्याख्यानों का संक्षिप्त विवरण <i>डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय</i>	53-78
8. Self-restraint: A Must for World Peace <i>Samani Aagam Prajna</i>	79-86
9. Virchand Raghavaji Gandhi : Assessment of a Jaina Scholar and Spokesman of India Abroad <i>Dr. Satish K Kapoor</i>	87-103

### स्थायी स्तम्भ

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	104-108
जैन जगत्	109-110
साहित्य सत्कार	111-114



## Our Contributors

**प्रो० रामजी सिंह**

पूर्व कुलपति जैन विश्वभारती, लाडनूँ एवं पूर्व राज्य सभा सदस्य

**डॉ० धर्म चन्द्र जैन**

आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

**डॉ. अनुराधा सिंह**

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

**डॉ० योगेश जैन**

असिस्टेंट प्रोफेसर, जैन विश्व भारती, लाडनूँ

**डॉ० श्वेता जैन**

शोध-छात्रा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ

**डॉ० सुमन कुमार झा**

वरिष्ठ सहायकाचार्य, साहित्यविभाग, श्री. ला. ब. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

**डॉ० शीला सिंह**

शोध प्रवक्ता, राज्य हिन्दी संस्थान, अर्दली बाजार, वाराणसी, ३०५०

**डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय**

रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

**Samani Aagam Prajna**

Assistant Professor, Dept. of Jainology, Jain Vishva Bharati University, Ladnun.

**Dr. Satish K Kapoor**

Ex-British Council Scholar, Registrar, DAV University, Jalandhar (Punjab), India



## सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव

आचार्य समन्तभद्र एवं महात्मा गाँधी : एक तुलनात्मक दृष्टि

प्रो० रामजी सिंह

‘सर्वोदय’ शब्द भले ही संस्कृत साहित्य एवं इसके प्रामाणिक शब्दकोशों में नहीं है लेकिन सर्वोदय की भावना प्राचीन वैदिक आर्य एवं नीति ग्रंथों में पर्याप्त रूप से व्याप्त है। ऐसा क्यों हुआ, यहाँ मैं एक उत्तर तो यही दे सकता हूँ कि सर्वोदय एक सामासिक शब्द है जो सर्व-उदय, इन दो शब्दों के योग से बना है। अतः अलग से इनको संयुक्त कर स्वतंत्र रूप से शब्दकोश में देने की आवश्यकता नहीं थी। इस शब्द की भावना सुरम्य और प्रखर होते हुए भी यह “वाचस्पत्यम्” और “शब्दकल्पद्रुम” आदि वृहद् संस्कृत शब्दकोशों में प्राप्त नहीं है। फिर सम्पूर्ण वेद, उपनिषद्, गीता और वाल्मीकीय रामायण में भी इसका प्रयोग नहीं मिलना एक संयोग या कुसंयोग हो सकता है। जबकि वैदिक संस्कृति में सर्वोदय की भावना प्रभूत रूप से विद्यमान है। आश्चर्य तब होता है जब जैन आचार्य समन्तभद्र की पुस्तक “युक्त्यानुशासन” में “सर्वोदय” शब्द को सर्वोदय तीर्थ के रूप में प्रयुक्त किया गया है। “सर्वोदय” में “सर्व” शब्द बहुवचन में “सब” का बोधक है। ‘सब’ का दूसरा अर्थ “सब प्रकार से” या सर्वप्रकारेण माना जायेगा। सब प्रकार का अर्थ भौतिक-आध्यात्मिक, अभ्युदय-निःश्रेयस, प्रेय-श्रेय के अलावा आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सबों को भी समाहित करता है।

महात्मा गाँधी ने सर्वोदय का उपरोक्त अर्थ मानते हुए एक नया अर्थ भी प्रदान करने का प्रयास किया है, जिसकी प्रेरणा संभवतः उन्हें बाइबिल एवं जान रस्किन की पुस्तक “Unto this Last” से मिली है। यही कारण है कि इस पुस्तक का जब गुजराती भाषा में गाँधीजी ने छायानुवाद किया तो उसका नाम गुजराती में ‘अन्त्योदय’ हुआ, भले ही हिन्दी में “सर्वोदय” रखा गया। बाइबिल में एक अत्यन्त मनोरम एवं हृदयस्पर्शी आख्यान है कि सर्वोदय की भावना अंतिम व्यक्ति के



कारण से ही आरम्भ होनी चाहिए। इसको ध्यान में रखकर गाँधी जी ने अपनी आखिरी प्रसिद्ध तावीज की व्याख्या में कहा था कि जब हमें कोई असमंजस हो या निर्णय लेने में दुविधा हो तो उसका निर्णय करते समय हमें चाहिए कि यदि हमारे काम से हमसे अधिक अंतिम व्यक्ति लाभान्वित होता है तो वह काम करना चाहिए। इसके पीछे मानवता का परम उत्कर्ष तो है ही, एक आध्यात्मिक विचार यह है कि भगवान दरिद्र नारायण हैं। जो व्यक्ति दीन-हीन, दुखी-दरिद्र, अकिंचन है, उसमें भगवान का दर्शन करना ही सार्थक है। गीता में कहा गया है- "दरिद्रान् भर- कौन्तेय।" रविन्द्रनाथ ने भी गीतांजलि में कहा है कि भगवान का चरम स्थान अंतिम, पददलित एवं पीड़ित व्यक्ति के पास है। रामकृष्ण ने तो "जेई जीव, तेई शिव" कह कर जीव को ही ईश्वर माना। गाँधीजी के आध्यात्मिक शिष्य संत विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक "स्वराज्य-शास्त्र" में राज्य के विकास को चार श्रेणियों में क्रमशः एकायतन, अल्पायतन, बहुआयतन के साथ सर्वायतन मानते हुए सर्वोदय-दर्शन के अनुसार राज्य व्यवस्था में सर्वायतन यानि जो राज्य- व्यवस्था "सभी का, सभी के" द्वारा एवं सभी के लिये हो" माना था।

असल में यह शब्दांतर इसलिए किया गया कि पाश्चात्य नीति-शास्त्रज्ञों में सिजविक, बेंथम, मिल आदि ने उपयोगितावाद का नया दर्शन खड़ा कर उसे "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" का आकर्षक नारा दिया था। किन्तु चूँकि इसका मूलाधार भौतिकवादी जीवन-दर्शन था, वह सर्वोदय-विचार का मंत्र नहीं स्वीकार किया गया। इसके बाद से वैदिक वाङ्मय से "सर्वेभवंतु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्" का अधिक व्यापक आदर्श स्वीकार्य हुआ। बहुसंख्यक या बहुमत का आधार अल्पमत को खारिज करता है।

यही कारण है कि पाश्चात्य राजतंत्र में संसदीय प्रजातन्त्र में बहुमत का आधार लोकतंत्र का अधिष्ठान बन गया जिसके कारण उनके विकृतियों का जन्म हुआ। बहुसंख्यक का गणितीय समीकरण 51/49

भी हो सकता है एवं यदि 99/100 लेकर 51/49 भी हो सकता है। भारतीय संसद में हाल ही में मात्र 1 वोट से अटलजी की सरकार अपदस्थ हो गयी। एक राज्य सरकार आज भी अल्पमत में रहकर शासन कर रही है। लेकिन बहुमत अल्पमत के अलावे उपयोगितावाद का आधार सर्वतोभद्र नहीं है और उसकी दृष्टि मात्र भौतिकवादी है।

हमें सोचना होगा कि सर्वोदय में 'उदय' शब्द केवल भौतिक उदय की अपेक्षा नहीं रखता है, उपनिषद् में जिस प्रकार प्रेय एवं श्रेय तथा धम्मपद में **पिय-सिय वगगो** का और न्याय वैशेषिक में अभ्युदय निःश्रेयस है। साम्यसूत्र में अभिधेयम परमसाम्य में सबका समन्वय है, उसी प्रकार का अन्तर उपयोगितावाद एवं सर्वोदय में है। विनोबा जी ने साम्यसुत्र में 'अभिधेय परम साम्यम्' की जब उपास्थापना की तो समता में केवल आर्थिक समता का ही नहीं बल्कि राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक समत्व की बात रखते हैं। इस अर्थ में समन्तभद्र के सर्वोदय की अवधारणा मूलरूप से आध्यात्मिक है, जबकि गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय आध्यात्मिक के साथ-साथ लौकिक भी है जिसमें जीवन का समस्त पक्ष समाहित है। जिसे हम संरचनात्मक सर्वोदय कह सकते हैं।

आचार्य समन्तभद्र की भावना अन्य संतों की तरह व्यक्तिगत साधना और व्यक्तिगत समाधि की प्रतीत होती है। व्यक्तिगत कर्म के द्वारा मनुष्य बन्धन में पड़ता है और कर्म के क्षय होने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। गाँधी ने व्यक्तिगत सदाचार को कम महत्त्व नहीं दिया और जैनाचार्यों ने पंचमहाव्रत को, बौद्धों ने पंचशील तथा सांख्य-योग-वेदान्त ने पंचयम् के रूप में व्यक्तिगत चारित्रिक साधना को अपनाते हुए एकादश व्रत का विधान रखा है। किन्तु जहाँ संत आदि अंतर्मुखता के कारण केवल व्यक्तिगत जीवन शुद्धि पर जोर देते हैं, वहाँ गाँधी उनके विचार को मानते हुए देश-काल और परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति के साथ समाज को भी ध्यान में रखते हुए व्यवस्था की पवित्रता पर भी ध्यान देते हैं। भागवत महापुराण में प्रह्लाद ने भगवान द्वारा परमपद प्राप्त करने के लिए स्वर्ग जाना छोड़ दिया था और कहा था जब तक

समाज के सारे लोग मुक्त नहीं होते हैं तो उन्हें वह मुक्ति भी नहीं चाहिए। "प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्त कामा" यही कारण है कि गाँधी ने समाज साधना को भी सर्वोदय में स्थान दिया। जीवन साधना के लिए एकादश व्रत और समाज साधना के लिए अष्टारह रचनात्मक कार्यक्रम बताये। यही नहीं अन्याय के प्रतिकार के लिए उन्होंने सत्याग्रह का अहिंसक अस्त्र भी दिया इस तरह जहाँ आचार्य समन्तभद्र उच्चतम कोटि के संत थे, वहीं गाँधी संत और योद्धा दोनों थे। उनके युद्ध में भी अहिंसा का ही प्रयोग था। गाँधी के अनुसार जीवन एक समग्रता है, जिसमें समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति सब परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसी हमारी समाजनीति होगी, वैसी ही हमारी राजनीति होगी। लेकिन गाँधी ने व्यक्तिगत शुद्धता को सबका आधार माना और इसीलिए साधन शुद्धि पर भी अत्याधिक बल दिया। आइन्स्टीन ने भी अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करते हुए कहा था कि यदि अध्यात्म बिना विज्ञान अंधा है, तो विज्ञान के बिना भी अध्यात्म पंगु है। गाँधी जी के शिष्य विनोबा जी ने वेदान्त को मानते हुए भी शंकराचार्य की उक्ति 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' के बदले 'ब्रह्म सत्यम् जगत्स्फूर्तिः जीवनम् सत्य शोधनम्' कहकर मायावाद का खंडन किया। आधुनिक युग में योगीराज श्री अरविन्द ने भी भौतिकवाद का इसलिए निषेध किया कि भौतिकवादी आत्मतत्त्व का निषेध करते हैं और अध्यात्मवादियों की इसलिए आलोचना कि वे भौतिक जगत् का निषेध करते हैं। इसीलिए गाँधी जी ने राजनीति और अर्थनीति के आध्यात्मीकरण और शिक्षा तथा विज्ञान को भी अध्यात्म से जोड़कर सर्वोदय विचार को परिपूर्ण और गतिशील बनाया। उन्होंने जैनदर्शन के अनेकांत और स्याद्वाद को इसलिए स्वीकार किया कि वे सत्य को अपनी व्यक्तिगत धरोहर नहीं मानते। सत्य सापेक्ष होता है इसलिए अपने विचार को ही सत्य और दूसरे को गलत कहना एक प्रकार की हिंसा है। इसीलिए जैन परम्परा में भी भिक्षु और गृहस्थ दो प्रकार के विधान हैं और दोनों के लिए अलग-अलग सदाचार के नियम हैं। बौद्ध परम्परा में भी पंचशील और दशशील का भेद है। भिक्षु बनने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता

है, लेकिन गृहस्थ सांसारिक जीवन में है, फिर भी अहिंसा के साथ अपरिग्रह की साधना गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है, भले उसकी कुछ मर्यादा हो। अपरिग्रह के बिना अहिंसा संभव ही नहीं तथा विनम्रता और सदाचार के बिना सत्य धर्म का पालन ही नहीं हो सकता। इसलिए गाँधी ने जैन धर्म के सर्वोदय विचार को युगानुकूल और व्यावहारिक बनाने के लिए उसे व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष को भी साधन बनाया।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि समन्तभद्र और गाँधी दोनों यह मानते हैं कि व्यक्तिगत जीवन शुद्धि के बिना हम समाजशुद्धि की कल्पना नहीं कर सकते हैं, इसलिए दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। आचार्यश्री सर्वोदय विचार की नींव हैं। गाँधी सर्वोदय रूपी भव्य भवन-कलश हैं। समन्तभद्र के अनुसार सर्वोदय तीर्थ व्यक्ति को तारता हुआ मोक्ष प्रदान करता है। गाँधी का सर्वोदय व्यक्ति को तो मुक्ति देता ही है साथ-साथ समाज को भी सर्वतोभद्र रूप से विकसित करता है।

जैन परम्परा ने आगे चलकर जन्मना जाति प्रथा और हिंसा के विकृततम् रूप धर्म के नाम पर पशुबलि का विरोध किया था। वहीं गाँधी ने समूचे विश्व में अहिंसा का प्रचार किया। आचार्य समन्तभद्र ने जैन शास्त्रों के अनुकूल ही सर्वोदय तीर्थ का प्रतिपादन किया। वहाँ गाँधी ने केवल अपने साम्प्रदायिक धर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा व्यक्त करते हुए सर्वधर्मसमभाव की भावना को आगे बढ़ाया। अनेकांत विचार के अनुसार यह कहना कि केवल हमारा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है शायद समीचीन नहीं होगा। इसीलिए आज आचार्य गाँधी ने अहिंसा को वैश्विक और सर्वधर्मावलम्बी बनाकर अनेकान्तवाद को ही सशक्त किया है। अनेकान्त केवल शब्द नहीं भावना का नाम है।

# तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सामान्य, विशेष तथा समवाय का कथंचिद् मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व

डॉ० धर्मचन्द जैन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में वैशेषिक दर्शन छह भाव पदार्थों में द्रव्य, गुण एवं कर्म के साथ सामान्य, विशेष एवं समवाय की भी गणना करता है। आगे चलकर वैशेषिक दर्शन में अभाव को भी पृथक् पदार्थ के रूप में स्थापित किया गया है। इन पदार्थों में सामान्य, विशेष एवं समवाय ऐसे पदार्थ हैं, जिनके पृथक् अस्तित्व का बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने प्रबल खण्डन किया है।<sup>1</sup> जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है, किंतु सामान्य एवं विशेष नामक स्वतंत्र पृथक् पदार्थों का कोई अस्तित्व अंगीकृत नहीं है। वैशेषिक दर्शन में सामान्य, विशेष एवं समवाय को अमूर्त स्वीकार किया गया है, जबकि आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इन्हें कथंचिद् मूर्त एवं अमूर्त सिद्ध किया है।

प्रश्न यह है कि सामान्य, विशेष एवं समवाय पदार्थ मूर्त होते हैं या अमूर्त? वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य के अंतर्गत ही मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व की चर्चा की जाती है। जिन पदार्थों का परिमाण परिच्छिन्न अर्थात् सीमित होता है वे मूर्त कहलाते हैं<sup>2</sup> तथा जिनका परिमाण अपरिच्छिन्न (असीमित) होता है वे अमूर्त कहलाते हैं। इस लक्षण के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु एवं मन द्रव्य ही मूर्त के अंतर्गत आते हैं<sup>3</sup>, शेष द्रव्य आकाश, काल, दिक् और आत्मा वैशेषिक दर्शन में अमूर्त हैं, क्योंकि इनका परिमाण परिच्छिन्न नहीं है, अपितु, परम् महत् है। परम् महत्परिमाण वाले द्रव्य अमूर्त होते हैं, किंतु सीमित परिमाण वाले द्रव्य मूर्त होते हैं। इस दृष्टि से अणु परिमाण वाले, द्वयुणक एवं मन को भी मूर्त स्वीकार किया जाता है।<sup>4</sup> गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय में अमूर्त की चर्चा नहीं की गई है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में मूर्तत्व एक गुण है जो द्रव्य में ही रह सकता है। परिमाण नामक गुण का ही एक स्वरूप मूर्तत्व है।

वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता है कि गुण में गुण नहीं रहता<sup>६</sup>, इसीलिए रूपादि किसी भी गुण में वैशेषिक दर्शन मूर्तत्व गुण को अंगीकार नहीं करता। कर्म पदार्थ में कोई गुण नहीं रहता, क्योंकि कर्म को भी गुण एवं कर्म से रहित स्वीकार किया गया है।<sup>७</sup>

मूर्तत्व के स्वरूप को लेकर जैनदर्शन एवं वैशेषिक दर्शन में मतभेद है। वैशेषिक दर्शन जहाँ परिच्छिन्न, अवच्छिन्न या अव्यापी परिमाणवाले द्रव्यों को मूर्त कहता है वहाँ जैनदर्शन में रूपी अर्थात् पुद्गल पदार्थों को मूर्त स्वीकार किया गया है।<sup>८</sup> जैन दार्शनिकों द्वारा ऐसा स्वीकार करने से देह परिमाण के रूप में परिच्छिन्न आत्मा का भी अमूर्तत्व सुरक्षित रह जाता है, अन्यथा वैशेषिकों के लक्षण के आधार पर आत्मा भी मूर्त की कोटि में प्रवेश कर सकती थी, किन्तु रूपी नहीं होने से वह अमूर्त है।

जैनदर्शन में पुद्गल का ही सूक्ष्मतम स्वतंत्र खण्ड होने के कारण परमाणु भी मूर्त है, क्योंकि वह रूप, रस, गंध एवं स्पर्श से युक्त है।<sup>९</sup> वैशेषिक दर्शन में भी परिच्छिन्न परिमाण वाला होने से उसे मूर्त स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, अप्, वायु, एवं मन इन पाँच द्रव्यों को ही मूर्त माना गया है, आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा पूर्णतः व्यापक हैं, परम् महत्परिमाण वाले हैं, अतः उन्हें अमूर्त स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में पृथ्वी, अप् आदि रूपी होने से पुद्गल के अन्तर्गत आ जाते हैं। जैनदर्शन में मूर्त का क्षेत्र वैशेषिक दर्शन से भी अधिक है, क्योंकि इसमें शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि से युक्त को भी मूर्त माना गया है।<sup>१०</sup> वैशेषिक दर्शन में शब्द मूर्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह गुण है। गुण में गुण नहीं रहता, इस नियम से शब्द गुण में परिमाण गुण नहीं रहता। जैनदर्शन में शब्द पुद्गल द्रव्य है अतः वह रूपी होने से मूर्त है। अष्टविध, कर्म, एवं अष्टविध वर्गणाएँ भी जैन दर्शन में मूर्त के अन्तर्गत ही समाविष्ट होती हैं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में मूर्त के चार लक्षण प्राप्त होते हैं—

1. एक लक्षण है 'रूपं मूर्तियेषां तानि मूर्तानि' अर्थात् रूप को मूर्ति कहते हैं तथा मूर्ति वाले रूपी द्रव्य मूर्त हैं।<sup>१०</sup>

2. द्वितीय लक्षण के अनुसार जो परिच्छिन्न, सीमित अथवा असर्वगत परिमाण वाले द्रव्य हैं, वे मूर्त हैं।<sup>11</sup>
3. तृतीय लक्षण में कहा गया है कि जो स्पर्शादि संस्थान परिमाण वाला होता है वह मूर्त होता है।<sup>12</sup>
4. चतुर्थ लक्षण के अनुसार जो क्रियावान् है वह मूर्त है।<sup>13</sup>

इनमें से जैनदर्शन द्वारा प्रथम लक्षण मान्य है, अन्य लक्षणों की चर्चा वैशेषिक द्वारा की जाती है। जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त किसी द्रव्य को मूर्त की कोटि में नहीं रखा गया है। अतः धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं कालद्रव्य अमूर्त हैं तथा एक मात्र पुद्गल द्रव्य मूर्त है। जैनों की इस मान्यता पर आक्षेप करते हुए वैशेषिक कहते हैं कि धर्म, अधर्म, कालाणु, एवं जीव अमूर्त नहीं हो सकते क्योंकि वे असर्वगत द्रव्य हैं। जो असर्वगत द्रव्य होता है वह अमूर्त नहीं होता है, पुद्गल के समान। असर्वगत होने का अर्थ है—सर्वव्यापक न होना। धर्म, अधर्म, कालाणु एवं जीव उतने व्यापक नहीं हैं, जितना कि आकाश व्यापक है, क्योंकि आकाश अलोक में भी रहता है एवं ये द्रव्य लोक पर्यन्त रहते हैं। अतः आकाश की अपेक्षा अव्यापित्व होने से इन्हें वैशेषिक मूर्त सिद्ध कर रहे हैं। किंतु आचार्य विद्यानन्द उत्तर देते हैं कि हम जैन भी धर्म, अधर्म आदि को सर्वगत परिमाण स्वीकार नहीं करते, अतः आप वैशेषिक का कथन सिद्धसाधन है।<sup>14</sup> जैनदर्शन में रूपी को ही मूर्त स्वीकार किया गया है। अतः वैशेषिकों की ओर से पुनः आक्षेप किया गया है कि स्पर्शादि संस्थान परिमाण मूर्ति है तथा इसके सद्भाव वाला द्रव्य मूर्त होता है, और धर्मास्तिकायादि द्रव्य स्पर्शादिसंस्थान वाले हैं, अतः वे अमूर्त नहीं हो सकते। वैशेषिकों के इस तर्क का खण्डन करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि आपके द्वारा जिसे पक्ष बनाया गया है वह अनुमान से बाधित है तथा जो हेतु दिया गया है वह कालात्ययादिष्ट (बाधित विषय) है।<sup>15</sup> यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाशादि में स्पर्शादि

संस्थान परिमाण स्वीकृत नहीं हैं। अतः वैशेषिकों की प्रतिज्ञा ही बाधित है। दूसरी बात यह है कि उनका हेतु हेत्वाभास है। विद्यानन्द दूसरा सदहेतु प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि धर्म, अधर्म आदि द्रव्य मूर्तिमान नहीं हैं, पुद्गल से भिन्न द्रव्य होने के कारण, आकाश के सामान। यह अनुमान वाक्य विवादाध्यासित धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अमूर्तत्व सिद्ध करता है। यदि कहा जाए कि सुखादि पर्यायों में हेतु के नहीं जाने से यह हेतु भागासिद्ध है तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि उनको यहाँ पक्ष ही नहीं बनाया गया है<sup>16</sup> अर्थात् उनकी यहाँ चर्चा ही नहीं है।

यदि यह प्रश्न किया जाए कि सुख, ज्ञान आदि पर्यायों में अमूर्तता किस प्रकार सिद्ध है तो कहना होगा कि इसके लिए अन्य हेतु कहा जा रहा है। सुखादि अमूर्तद्रव्य आत्मा के पर्याय हैं अतः मूर्त नहीं, अमूर्त द्रव्य के पर्याय होने से, आकाश की पर्याय के समान। यहाँ प्रश्न उठाया गया कि सुख, ज्ञान आदि को भले ही अमूर्त मान लिया जाए, किन्तु मूर्तिमान् द्रव्यों की रूपादि पर्यायों को अमूर्त कैसे कहा जाएगा? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि 'उनमें अमूर्तत्व किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य स्वयं मूर्तिमान् हैं। मूर्त पुद्गलों की रूपादि पर्याय भी मूर्त ही हैं। हाँ एक नियम है कि गुण में अन्य कोई गुण नहीं होने से वह निर्गुण कहलाता है। इसी प्रकार रूपादि मूर्त हैं, किन्तु उनमें अन्य मूर्तत्व आदि गुण नहीं रहने की अपेक्षा से उन्हें अमूर्त कहा जा सकता है'<sup>17</sup> तात्पर्य यह है कि यद्यपि रूपादि गुण मूर्त द्रव्यों में रहने से भले ही मूर्त कहे जाएं, किन्तु इनमें मूर्तत्व गुण नहीं रहने से ये अमूर्त माने जा सकते हैं।

वैशेषिकों द्वारा मान्य सामान्य, विशेष एवं समवाय को लेकर भी आचार्य विद्यानन्द ने मूर्तत्व का विचार किया है। वे सामान्य, विशेष एवं समवाय का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि सदृश परिणाम लक्षण वाला सामान्य, विसदृश परिणाम लक्षण वाला विशेष तथा अपृथग्भाव लक्षण वाला समवाय कहलाता है। ये सामान्य जब मूर्त



द्रव्यों में रहते हैं तो मूर्त कहे जाते हैं तथा जब अमूर्त द्रव्यों में रहते हैं तो अमूर्त कहलाते हैं। वैशेषिकों के द्वारा उन्हें मात्र अमूर्त मानने का उसी प्रकार खण्डन हो जाता है, जिस प्रकार रूपादि गुणों को एकमात्र मूर्त मानने का खण्डन होता है। अतः वैशेषिकों द्वारा गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, एवं समवाय को मात्र अमूर्त मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करना प्रतीतिविरुद्ध है।<sup>18</sup>

वैशेषिक दर्शन में सामान्य एक पृथक् पदार्थ है जो नित्य है तथा अनेकों में समवाय संबन्ध से रहता है।<sup>19</sup> यह अपने विषय में सर्वगत होता है तथा अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण होता है। जैनदर्शन में इसे पृथक् पदार्थ नहीं मानकर सदृशता का वाचक माना गया है। 'सामानानां भावः सामान्यम्' के अनुसार जैनदर्शन में समान पदार्थों में समानता का भाव ही सामान्य है। उदाहरण के लिए विभिन्न गायों में रही समानता या सदृशता ही सामान्य है। वैशेषिक ने इसे 'गोत्व' सामान्य से अभिहित किया है, जो अनेक गायों में रहने के साथ नित्य भी है। जैन दार्शनिक इसे अनुगत आकार में कारण तो मानते हैं, किन्तु नित्य नहीं मानते। वे इसे वस्तु या पदार्थ का स्वरूप स्वीकार करते हैं। सामान्य को दो प्रकार का भी माना गया है— तिर्यक् सामान्य एवं ऊर्ध्वता सामान्य। इनमें एक वस्तु की विभिन्न पूर्वापर पर्यायों में सदृशता ऊर्ध्वता सामान्य है तथा विभिन्न वस्तुओं में रही हुई समानता तिर्यक् सामान्य है।<sup>20</sup> यह दोनों प्रकार का सामान्य वस्तु का अपना स्वरूप है, इसे पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। यह सामान्य यदि मूर्त पदार्थ में रहता है तो उसे मूर्त कहना चाहिए तथा अमूर्त पदार्थ में रहता है तो उसे अमूर्त कहना चाहिए।

'विशेष' नामक पदार्थ जो वैशेषिक दर्शन में पृथक् पदार्थ के रूप में प्रतिपादित है वह अणु, आकाशादि नित्य द्रव्यों में रहता है तथा उनकी अत्यन्तव्यावृत्ति का कारण होता है।<sup>21</sup> ये विशेष अनन्त होते हैं। जैनदर्शन में विशेष को दो द्रव्यों या दो पर्यायों की व्यावृत्ति का हेतु माना गया है। सामान्य जहाँ समानता का द्योतक है वहाँ विशेष व्यावृत्ति या भेद को इंगित करता है। जैनदर्शन में वस्तु का स्वरूप

सामान्य—विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। विशेष के कारण एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद सिद्ध होता है। एक अन्य अपेक्षा से पर्याय को जैनदर्शन में विशेष एवं द्रव्य को सामान्य स्वीकार किया गया है। इसीलिए जब वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक कहते हैं तो एक प्रकार से वह सामान्यविशेषात्मक ही होती है। वैशेषिक दर्शन में यह विशेष भी अमूर्त स्वीकार किया गया है। जैनदार्शनिक इस विशेष को भी कथंचित् अमूर्त एवं कथंचित् मूर्त अंगीकार करते हैं। आचार्य विद्यानन्द के अनुसार मूर्त पदार्थों की पर्याय मूर्त एवं अमूर्त पदार्थों की पर्याय अमूर्त होती है, अतः विशेष भी मूर्त एवं अमूर्त होता है।

अयुतसिद्ध पदार्थों का जो आधार—आधेय संबन्ध होता है उसे समवाय कहा जाता है।<sup>22</sup> द्रव्य में गुण, द्रव्य में कर्म, द्रव्यादि में सामान्य इस समवाय संबन्ध से ही रहते हैं।<sup>23</sup> यह समवाय जैनदर्शन में पृथक् पदार्थ के रूप में अंगीकृत नहीं है। इसे यहाँ अपृथग्भाव अर्थात् कथंचित् तादात्म्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः तादात्म्य के कारण एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः मूर्त द्रव्यों के साथ अपृथग्भाव से जो रहता है वह मूर्त होता है तथा अमूर्त द्रव्यों के साथ जो अपृथग्भाव से रहता है, वह अमूर्त होता है। प्रशस्तपादभाष्य में मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन इस प्रकार किया गया है,

**रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः ।**

**बुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्तगुणाः ।**

**संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणाः ।।<sup>24</sup>**

रूपादि गुणों के इस विभाजन से वैशेषिक एवं जैन दर्शन में यह साम्य दृष्टिगोचर होता है कि वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार रूप, रस, गंध एवं स्पर्श को मूर्त पदार्थों का गुण स्वीकार किया गया है उसी प्रकार जैनदर्शन भी इन्हें द्रव्यों के गुण मानता है। परत्व तो काल में भी पाये जाते हैं एवं काल अमूर्त होता है, अतः उसके परत्व—अपरत्व गुण मूर्त की कोटि में नहीं आ सकते। जैनदर्शन में सुख को अमूर्त एवं मूर्त

दोनों प्रकार का माना जा सकता है, क्योंकि पौद्गलिक वेदनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख कथंचित् रूपी होने से मूर्त्त हैं, किंतु अव्याबाध आत्मिक सुख अमूर्त्त ही होता है, मूर्त्त नहीं हो सकता।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यानन्द ने मूर्त्तत्व एवं अमूर्त्तत्व पर पर्याप्त विचार किया है। वैशेषिक दर्शन की मान्यताएं उन्हें आत्मसात हैं, किन्तु जैनदर्शन की अनेकान्तदृष्टि से वस्तुसत् की परीक्षा करने में वे दक्ष हैं, अतः सामान्य विशेष एवं समवाय की पृथक् पदार्थता का भी निरसन करते हैं एवं उनमें मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व भी सिद्ध कर देते हैं।

### संदर्भ :

1. (क) बौद्धों द्वारा खण्डन के लिए द्रष्टव्य, धर्मकीर्ति एवं शान्तरक्षित के ग्रंथ।  
(ख) जैनों द्वारा खण्डन के लिए द्रष्टव्य प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि आदि के ग्रंथ।
2. मूर्त्तत्वमवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वम् ।— श्रीधर रचित न्यायकन्दली, गंगानाथ झा ग्रंथमाला, प्रशस्तपादभाष्य (न्यायकन्दली सहित), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1977 पृ0 57
3. क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्वानि ।— प्रशस्तपादभाष्य, साधर्म्यवैधर्म्य प्रकरण, पृ0 56
4. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष परिच्छेद, डॉ0 धर्मन्द्रनाथ शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण 1977, पृ0 152-153
5. रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रित्वं निर्गुणत्वं निष्क्रयत्वम् ।— प्रशस्तपादभाष्य, गुणपदार्थनिरूपण, पृ0 227
6. उल्लेपणादीनां पंचानापि कर्मत्वसम्बन्धः एकद्रव्यत्वं, क्षणिकत्वं, मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वमगुणवत्त्वं ।— प्रशस्तपादभाष्य, कर्मपदार्थ निरूपण प्रकरण, पृ0 697
7. (क) रूपिणः पुद्गलाः ।— तत्त्वार्थसूत्र, 5/5  
(ख) रूपशब्दस्यानेकार्थत्वेऽपि मूर्त्तवत्पर्यायग्रहणं, शास्त्रसामर्थ्यात् । ततो रूपं मूर्त्तिरिति गृह्यते रूपादिसंस्थानपरिमाणो मूर्त्तिरिति वचनात् ।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, पुस्तक 6 अध्याय 5 सूत्र 5 पर टीका।
8. परमाणु में वर्ण, गन्ध रस एवं स्पर्श स्वीकृत हैं। भगवती सूत्र एवं अन्य ग्रंथों से यह तथ्य पुष्ट है।
9. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च ।— तत्त्वार्थसूत्र 5/24

10. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, पुस्तक 6, पृ0 29
11. असर्वगतद्रव्यपरिमाणो मूर्तिरिति।— वही, पृ0 29
12. स्पर्शादिसंस्थानपरिमाणो मूर्तिः।— वही, पृ0 30
13. ननु पुद्गलाः क्रियावत्तयोपलभ्यमानाः क्रियावंत इति युक्तम्।— वही पृ0 46
14. कश्चिदाह धर्माधर्मकालणवो जीवाश्च नामूर्तयो असर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवत्, स्याद्वादिभिस्तेषामसर्वगतद्रव्यत्वाभ्युपगमान्नात्राऽसिद्धो हेतुः.....सोऽत्र प्रष्टव्यः का पुनरियं मूर्तिरिति? असर्वगतद्रव्यपरिमाणो मूर्तिरिति चेत्तर्हि न सर्वगतद्रव्यपरिमाणवन्तो धर्मादय इति साध्यमायातं तथा च सिद्धसाधनम्।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, पुस्तक 6, पृ0 29
15. अथ स्पर्शादिसंस्थानपरिमाणो मूर्तिस्तद्भावान्नामूर्तयो धर्मादय इति साध्यं तदानुमानबाधितः पक्षः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः।— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, पुस्तक 6, पृ0 30
16. तथाहि धर्मादयो न मूर्तिमन्तः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदित्यनुमानं विवादाध्यासितद्रव्याणाममूर्तित्वसाध्यत्येव। सुखादिपर्यायेष्वभावाद् भागासिद्धत्वं हेतोरिति चेत् तेषामपक्षीकृतत्वात्।— वही, पृ0 30
17. कुतस्तेषाममूर्तित्वसिद्धिः? साधनान्तरादित्यभिधीयते। सुखादयोऽप्यमूर्तद्रव्यपर्यायाः न मूर्तिमन्तः अमूर्तद्रव्यपर्यायत्वादाकाशपर्यायवत्। मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायाणां रूपादीनां कथममूर्तित्वसिद्धिरिति चेन्न कथमपि तेषां स्वयं मूर्तितत्वात्। मूर्तित्यन्तराभावात् तेषाममूर्तित्वं गुणत्वादेः सिद्धयति गुणानां निर्गुणत्वात्।— वही, पृ0 30
18. एतेन सामान्यविशेषसमवायानां सदृशेतरपरिणामाविश्वगभावलक्षणानां मूर्तिद्रव्याश्रयाणां कर्मणां च मूर्तत्वममूर्तित्वं चिन्तितं बोद्धव्यम्। तेषाममूर्तित्वमेवेत्यपि प्रत्याख्यातं, तेन यदुक्तं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अमूर्त्तय एवेति तदयुक्तं, प्रतीतिविरोधात्।— वही, पृ0 31
19. तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्— न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ0 33
20. सामान्य द्विप्रकारं तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यं च। प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं, शबलशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा। पूर्वापरपरिणाम— साधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं, कटककंकणाद्यनुगामि काञ्चनवत्।— प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, पंचम परिच्छेद, सूत्र 3—5
21. नित्यद्रव्येष्वकाशकालादिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः।— प्रशस्तपादभाष्य, विशेष निरूपण प्रकरण, पृ0 766
22. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवाय।— प्रशस्तपादभाष्य, समवाय प्रकरण, पृ0 733
23. घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः।।— कारिकावली, 11
24. प्रशस्तपादभाष्य, गुणप्रकरण, पृ0 229

## प्राचीन भारत में सिंचाई व्यवस्था

(जैन साहित्य के विशेष संदर्भ में)

डॉ. अनुराधा सिंह

भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय कृषि लगभग पूर्ण रूप से मानसून पर निर्भर करती है, परन्तु मानसून के आने का कोई निश्चित समय नहीं है तथा व्यवहार अत्यधिक परिवर्तनशील है। अतः भारतीय कृषि को सिंचाई पर निर्भर रहना पड़ता है ताकि उत्पादन पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। भारत में सिंचाई के लिए जल संसाधन प्राचीनकाल से ही उपलब्ध रहे हैं, जिनका सिंचाई में उपयोग किया जाता है।

प्राचीनकाल में पूर्व ऐतिहासिक काल में लोग कृषि से अनभिज्ञ थे, इसलिए सिंचाई की आवश्यकता नहीं थी, नवपाषाणकाल में मानव कृषि के लिए वर्षा पर निर्भर रहता था। हड़प्पा सभ्यता के नगरों में नालियों की व्यवस्था के ज्ञान से सिंचाई के लिए नहरों की व्यवस्था का अनुमान लगाया जाता है, परन्तु यहाँ उत्खनन से अभी तक किसी पुरास्थल से नहर द्वारा सिंचाई का साक्ष्य नहीं मिला है। वहीं घरों में कुँओं का मिलना, कुँओं द्वारा सिंचाई किये जाने का संकेत देता है। ऋग्वैदिक काल में कुँओं तथा चरखी द्वारा पानी निकालने का उल्लेख सिंचाई के शुरुआत का सूचक है। ए.बी. कीथ<sup>1</sup> के अनुसार ऋग्वेद में सिंचाई की कृत्रिम प्रणाली का प्रमाण कुल्या<sup>2</sup> तथा आपाह<sup>3</sup> से प्राप्त होता है। अथर्ववेद में नहरों की खुदाई और उससे सिंचाई का ज्ञान मिलता है। महाकाव्यों में सर्वप्रथम राजकीय सिंचाई व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण में राम ने कोशल के कृषकों को वर्षा नहीं अपितु सिंचाई पर निर्भर बताया।<sup>4</sup> महाभारत में वर्णित है कि राजा को नहरों के द्वार पर होने वाले खतरों से सावधान रहना चाहिए।<sup>5</sup> कुँए, तालाब, जल-संचयगार और अन्य सिंचाई के साधनों का उपयोग राजा तथा जनता समान रूप से करती थी।<sup>6</sup> धर्मशास्त्रों में जलाशयों की क्षति के लिए कठोर दण्ड का विधान

किया गया है। विष्णु ने तटबंध को तोड़ने वाले को मारने या डुबाने का दंड निर्धारित किया है<sup>7</sup> पर यदि वह अपना दोष मान कर उसकी मरम्मत कर दे तो उस पर 100 पण दण्ड लगाना चाहिए।<sup>8</sup>

जैन साहित्य में भी प्राचीन कालीन सिंचाई के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। बीजों को बोने के बाद अच्छी पैदावार प्राप्त करने हेतु खेतों को सींचना आवश्यक था। यद्यपि किसान सिंचाई के लिए वर्षा पर निर्भर थे, फिर भी सिंचाई के लिए पुष्करिणी, बावड़ी, कुआँ, तालाब, सरोवर आदि निर्मित किए जाते थे।<sup>9</sup> लोग तालाब खुदवाना धर्म मानते थे।<sup>10</sup> कौटिल्य ने मौर्य काल में सिंचाई के लिए चार प्रकार के साधनों की चर्चा की है<sup>11</sup>— हाथ से, कंधों पर जल ढोकर, नदी या तालाब द्वारा तथा कृत्रिम विधि से। राज्य की ओर से नहरों की व्यवस्था थी। नहरों से सिंचाई करने वालों से कर वसूला जाता था। कौटिल्य के अनुसार जो हाथ से सिंचाई करता था उसे उत्पादन का 1/5 भाग सिंचाई कर देना पड़ता था, जो कंधे पर जल ढोकर सिंचाई करता उसे 1/4 भाग, वहीं तालाब, कुँआँ और नहरों से सिंचाई करने वाले को उत्पादन का 1/3 भाग सिंचाई कर देना पड़ता था।<sup>12</sup> अष्टाध्यायी में नहर तथा कुँआँ से धान के खेत सींचने का उल्लेख है।<sup>13</sup> सिंचाई के लिए प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक दोनों साधनों का प्रयोग किया जाता था। 'रहट' आदि कृत्रिम साधनों से सींचे जाने वाले खेतों को सेतु कहा जाता था। केवल वर्षा के पानी से सींचे जाने वाले खेतों को केतु कहा जाता था।<sup>14</sup> नदियों पर यंत्रों की सहायता से बांध बाँधे जाते थे, जिससे आवश्यकतानुसार पानी रोक दिया जाता था।<sup>15</sup>

बौद्ध ग्रंथों में भी नदियों पर बांध बनाकर सिंचाई करने का उल्लेख है। शाक्य और कोलिय जातियों ने मिलकर रोहिणी नदी पर बांध बनाया था और उस जल से दोनों खेत सींचते थे। खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में उल्लिखित है कि नन्दराजा द्वारा कलिंग की सीमा पर 'तनसुलीय' नामक नहर बनवाई गई थी, जब कलिंगाधिपति खारवेल गद्दी पर बैठा तो उसने उस नहर को जनहित के लिए पुनः नगर में प्रवेश कराया था।<sup>16</sup> गुप्तकाल के विश्ववर्मन के गंधार प्रस्तर लेख से

ज्ञात होता है कि विश्ववर्मन ने नदी तट पर बसे नगर से सिंचाई के लिए कूपों और तड़ागों का निर्माण करवाया। नदियों से छोटी-छोटी नहरें निकाली जाती थीं। तोसलि निवासी वर्षा के अभाव में नदियों और नहरों के पानी से खेत सींचते थे।<sup>17</sup> जैन साधुओं के लिए पानी के उद्गम स्थलों, तालाबों, खेतों की ओर जाने वाली पानी की नालियों पर मलमूत्र त्याग करना वर्जित था।<sup>18</sup> प्रायः कृषक सिंचाई हेतु पानी की चोरी भी कर लेते थे। निशीथचूर्णि में एक ऐसे किसान का वर्णन है, जो चुपके से दूसरे किसान की बारी पर अपने खेत में पानी ले लेता था।

वसुदेवहिण्डी के अनुसार उग्रसेन का कुटुम्बी पुरुष रात में खेतों पर मेंड़ बांधकर पानी देता था। मेरुग्रामीण ने उसकी मेंड़ तोड़कर अपने खेतों में पानी ले लिया। उग्रसेन ने राज्याधिकारी से इसकी शिकायत की। अपराध सिद्ध होने पर राजा ने मेरुग्रामीण को दण्डित किया।<sup>19</sup> पानी की चोरी राजकीय अपराध था इसलिए ग्रामीण होने पर भी मेरु को अपने अपराध के लिए दण्ड भुगतान पड़ा। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिंचाई के साधनों का प्रयोग किया जाता था।<sup>20</sup> वृहत्कल्प भाष्य के वृत्तिकार के अनुसार लाट देश में प्रमुख रूप से वर्षा के जल से सिंचाई होती थी। सिंधु देश में नदी के जल से, द्रविड़ में तालाब से तथा उत्तर भारत में कुँए के जल से सिंचाई होती थी। इसी प्रकार नदियों की बाढ़ के पानी से भी सिंचाई करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कानन द्वीप में पानी की अधिकता के कारण नावों पर खेती होती थी।<sup>21</sup> आज भी कश्मीर में डलझील में लकड़ी के पाटों पर मिट्टी डालकर खेती की जाती है, ऐसे खेतों को चलते-फिरते खेत कहा जाता है।

राज्य द्वारा की गई सिंचाई व्यवस्था का स्वरूप क्या था, इसका कोई विशेष उल्लेख जैन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है। वहीं अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से सिंचाई का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। प्राचीन अभिलेखों और प्रशस्तियों में राजाओं द्वारा निर्मित जलाशय, कूप, वापी, प्रपा (प्याऊ), सरोवर, तड़ाग, आदि जल स्रोतों

का उल्लेख है।<sup>22</sup> लगभग 150 ई. के रूद्रदामन के गिरनार शिलालेख से ज्ञात होता है कि मौर्य कालीन सौराष्ट्र के प्रशासक पुष्यमित्र ने सुदर्शन सरोवर बनवाया था। इसके जल का उपयोग सिंचाई के लिए होता था। एक बार अधिक वर्षा होने के कारण बांध टूट गया। रूद्रदामन ने उस बांध को पुनः बंधवाया।<sup>23</sup> स्कन्दगुप्त ने भी इस बांध का जीर्णोद्धार करवाया था।<sup>24</sup> कलिंग के राजा खारवेल ने प्रभूत धन व्यय करके तनसुली से नहर निकलवायी थी, जो सिंचाई और आवागमन की दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।<sup>25</sup>

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार सिंचाई प्रबन्ध करने वाले कृषकों को राज्य प्रोत्साहन देता था। अगर कोई कृषक सिंचाई के लिये नये सीमा बंध बनाता था, तो पाँच साल के लिए उसे करमुक्त कर दिया जाता था और यदि टूटे-फूटे की मरम्मत करके उसे सिंचाई योग्य बनाता था, तो चार साल के लिए करमुक्त कर दिया जाता था।<sup>26</sup> इससे प्रतीत होता है कि राज्य सिंचाई-कर भी लेता था पर जैन ग्रंथों में सिंचाई-कर का उल्लेख नहीं हुआ है।

### सन्दर्भ :

1. कीथ, ए.बी. 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर'।
2. ऋग्वेद- 7, 49-2
3. वही-7, 49-2
4. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड।
5. महाभारत-12, 128-28।
6. वही, 1, 3।
7. धर्मकोश, पार्ट-1, 9, 279।
8. वही, 5, 15।
9. आवश्यक चूर्णि 1/556।
10. प्रश्नव्याकरण 1/14।
11. अर्थशास्त्र 2, 24।
12. मुखर्जी, आर.के., चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 145।
13. अष्टाध्यायी, 1/1/24।
14. वृहत्कल्प भाष्य, भाग-2, गाथा 826।
15. विमलसूरी- पउमचरियं, 10/35, 49।
16. डॉ. सहाय, पूर्वोक्त, खारवेल का हाथी गुंफा, अभिलेख।



18 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

17. विश्ववर्मन का गंधार प्रस्तर अभिलेख, जान फेयफुल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ0 961।
18. वृहत्कल्प भाष्य, भाग-2, गाथा 1061।
19. संघदासगणि, बसुदेवहिण्डी, 1/295।
20. वृहत्कल्प भाष्य, भाग-2, गाथा 1239।
21. वही
22. विश्ववर्मन का गंधार प्रस्तर लेख, जान फेयफुल, भारतीय अभिलेखों का संग्रह, पृ0 96।
23. रुद्रदामन जुनागढ़ शिलालेख, पंक्ति 15, नारायण ए.के., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ0 43।
24. स्कन्दगुप्त का जुनागढ़ शिलालेख, वही, पृ0 43।
25. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, पंक्ति 6, वही, पृ0 43।
26. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 3/9/51

\*\*\*\*\*

## लेश्या स्वरूप एवं विमर्श

डॉ. योगेश कुमार जैन

डॉ. श्वेता जैन

प्राकृत पंचसंग्रह में लेश्या को प्रतिपादित करते हुये आचार्य कहते हैं कि—

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च ।  
जीवो ति होइ लेसा लेसा गुणजाणयक्खाया ।।  
जह गेरुवेण कुडडो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण ।  
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहयत्ति लेव्वेण ।'

अर्थात् जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरू-मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, उसको लेश्या कहते हैं।

धवलाकार कहते हैं कि— “लिम्पतीति लेश्या । कर्मभिरात्मानमित्य-  
ध्याहारापेक्षित्वात् । अथवात्मप्रवृत्ति संश्लेषणकारी लेश्या । प्रवृत्ति  
भाब्दस्य कर्म पर्यायत्वात् ।”<sup>2</sup> अर्थात् जो लिम्पन करती है उसको  
लेश्या कहते हैं। जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या  
कहते हैं। अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करने वाली है  
उसको लेश्या कहते हैं। यहाँ पर ‘प्रवृत्ति’ शब्द कर्म का पर्यायवाची है।

### भावलेऽया और द्रव्यलेऽया

कषाय से अनुरंजित जीव की मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भावलेश्या है। आगम में इनका वर्णन कृष्णादि छह रंगों द्वारा निर्देशित किया गया है। इनमें से तीन शुभ व तीन अशुभ होती हैं। राग व कषाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीवों को लेश्या नहीं होती। शरीर के रंग को द्रव्यलेश्या कहते हैं। देव व नारकियों में द्रव्य व भाव लेश्या समान

20 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

होती है, पर अन्य जीवों में इनकी समानता का नियम नहीं है। द्रव्य लेश्या आयुपर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है। कषाय के उदय से अनुरंजित मोह और योग की प्रवृत्ति को भावलेश्या और शरीर के पीत-पद्मादि वर्णों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। द्रव्यलेश्या पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है। अतः आत्मभावों के प्रकरण में उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया है। भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योगवृत्ति का निमित्त पाकर होती है, इसलिए कषाय औदयिकी कही जाती है।

### लेश्याओं का स्वरूप—

कषाय से अनुरंजित मोह और योग के परिणाम को लेश्या कहते हैं। लेश्या मुख्यरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। भावलेश्या छह प्रकार की है। लेश्या के भेदों का वर्णन करते हुए पंचाध यायीकार कहते हैं कि —

**लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।**

**यस्माद्योगकशायाम्यां द्वाभ्यामेवो दयोदभवाः।।<sup>१</sup>**

लेश्याओं के छह भेद हैं—1. कृष्ण 2. नील 3. कापोत 4. पीत 5. पद्म 6. शुक्ल। इन्हीं छह भेदों से लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीव के औदयिक भाव हैं, क्योंकि लेश्यायें योग और कषायों के उदय से होती हैं। कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के भावों का नाम ही औदयिकभाव है। योग और कषाय के समुदाय का नाम लेश्या है तथा यह लेश्या ही प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चारों प्रकार के बन्ध का कारण है।

### (i) कृष्णलेश्या :

**चंडो ण मुचइवेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।**

**दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स।।<sup>१</sup>**

कृष्णलेश्या वाले जीव के भाव अशुभतम् अर्थात् मूल से नाश करने वाले भाव होते हैं। कृष्ण लेश्या वाला जीव तीव्र क्रोध करता है, बैर को नहीं छोड़ता है, युद्ध के लिए सदा तत्पर रहता है, दया-धर्म से रहित होता है, दुष्ट होता है और किसी के वश में नहीं आता है।

**(ii) नीललेश्या :**

मंदोबुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य।  
 माणी मायी य तहा, आलस्सो चेव भेज्जो य।।  
 णिद्दावंचण बहुलो, धणधण्णे होदि तिक्खसण्णा य।  
 लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स।<sup>९</sup>

जो जीव मंद अर्थात् स्वच्छन्द होता है, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित होता है, कला-चातुर्य से रहित होता है, पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पट होता है, मानी, मायावी, आलसी, भीरु तथा दूसरों का अभिप्राय सहसा न जानने वाला, अति निद्रालु, दूसरों को उगने में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो, वह नील लेश्या वाले परिणाम से युक्त होता है। ऐसा आसक्त जीव नीललेश्या के साथ धूम-प्रभा नरक पृथ्वी तक जाता है।

**(iii) कापोतलेश्या :**

रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो।  
 असुयइ परिभवइ परं, पसंसये अप्पयं बहुसो।।  
 ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि भण्णंतो।  
 थूसइ अभित्थुवंतो, ण य जाणइ हाणि-वड्ढिं वा।।  
 मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुगं वि थुक्खमाणो दु।  
 ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स।।<sup>९</sup>

अर्थात् दूसरे के ऊपर क्रोध करना, दूसरों की निन्दा करना, अनेक प्रकार से दूसरों को दुःख देना अथवा दूसरों से बैर करना, अधिकतर शोकाकुलित रहना तथा भयग्रस्त रहना या हो जाना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी

नाना प्रकार से प्रशंसा करना, दूसरों के ऊपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को भी मानना, स्तुति करने वाले पर संतुष्ट हो जाना, अपनी हानि-वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करने वाले को खूब धन देना, अपने कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना न करना, ये सब कापोत लेश्या वाले के चिह्न हैं।

मात्सर्य, पैशून्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसक को धनदेना, युद्ध मरणोद्यम आदि कापोतलेश्या के कारण हैं।

#### (iv) पीतलेश्या :

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसयं च सव्वसमपासी ।  
दयादाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥<sup>7</sup>

अर्थात् अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी हो, दया-दान में तत्पर हो, मन-वचन-काय के विषय में कोमल परिणामी होना, पीतलेश्या वाले के चिह्न हैं।

#### (v) पद्मलेश्या :- (Padma, pink leshya)

चागी भदो चोक्खो, उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।  
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥<sup>8</sup>

जो दान देने वाला हो, भद्रपरिणामी हो जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, कष्टरूप तथा अनिष्टरूप उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनिजन गुरुजन आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो, ये सब पद्मलेश्या वाले के लक्षण हैं।

#### (vi) भुक्ललेश्या :

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो ये सव्वेसिं ।  
णात्थि य रायदोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥<sup>9</sup>

अर्थात् पक्षपात न करना, निदान को न बांधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष न करना, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि में स्नेहरहित होना, ये सब शुक्ललेश्या वाले के लक्षण हैं।

इन छहों लेश्याओं वाले जीवों के विचारों के विषय में एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है—छह पथिक जंगल के मार्ग में जा रहे थे। मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आम के वृक्ष के पास पहुँच गये। उस वृक्ष को फलों से भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं इस वृक्ष को जड़ से उखाड़कर इसके आम खाऊँगा। नीललेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं जड़ से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता, किन्तु स्कन्ध (जड़ के ऊपर का भाग) से काटकर इसके आम खाऊँगा। कापोतलेश्या वाले ने अपने विचार के अनुसार कहा कि मैं बड़ी-बड़ी शाखाओं को गिराकर आम खाऊँगा। पीतलेश्या वाले ने अपने परिणाम अनुसार कहा कि मैं बड़ी-बड़ी शाखाओं को तोड़कर समग्र वृक्ष की हरियाली को क्यों नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी-छोटी डालियों को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलों को ही तोड़कर खाऊँगा। शुक्ललेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि तुम तो फलों के खाने की इच्छा से इतना बड़ा आरम्भ (पाप) करने के लिए उद्यत हो। मैं तो केवल वृक्ष से स्वयं टूटकर गिरे हुए फलों को ही बीनकर खाऊँगा।

### भेद-प्रभेद-

इस प्रकार छहों लेश्याओं के स्वरूप वर्णन के उपरान्त लेश्याओं के अंशों (भेदों) का कथन इस प्रकार है :-

लेस्साणं खलु अंसा, छवीसा होंति तत्थ मज्झिमया ।

आउगबंधण जोगा, अट्टट्टवगरिसकालमवा ।।<sup>10</sup>

अर्थात् लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश हैं, इनमें से आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं, वे ही आयुकर्म के बन्ध के योग्य होते हैं।

छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल सम्बन्धी अंशों के मिलाने पर छब्बीस भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यच की

भुज्यमान आयु का प्रमाण छह हजार पांच सौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त द्वितीय अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि यहां पर भी बन्ध न हो तो इसी प्रकार से तीसरे अपकर्ष में होता है और तीसरे में भी न हो तो चौथे, पांचवें, छठें, सातवें, आठवें अपकर्ष में से किसी भी अपकर्ष में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध हो ही जाये। केवल इन अपकर्षों में आयुकर्म के बन्ध की योग्यता मात्र बताई गई है। इसलिए यदि किसी भी अपकर्ष में बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयु का अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल) से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होता है, यह नियम है।

भुज्यमान आयु के तीन भागों में से दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष काल में लेश्याओं के आठ मध्यमांशों में से जो अंश होगा उसके अनुसार आयुशों में से जो कोई अंश जिस अपकर्ष में होगा उस ही अपकर्ष में आयु का बन्ध होगा, दूसरे काल में नहीं।

जीवों के दो भेद हैं—एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विषभक्षणादि निमित्त के द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं और जो इससे रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं। जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीति से ही परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। किन्तु अनुपक्रमायुष्कों में कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कों में जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयु के अन्तिम छह माह शेष रहने पर आयु के बन्ध करने के योग्य होते हैं। इसमें

भी छह महीना के आठ अपकर्ष काल में ही आयु का बन्ध करते हैं, दूसरे काल में नहीं। जो भोगभूमि के मनुष्य या तिर्यच हैं, उसकी आयु का प्रमाण एककोटिपूर्व वर्ष और एक समय से लेकर तीन पल्योपम पर्यन्त है। इसमें से वे अपनी-अपनी यथायोग्य आयु के अन्तिम नौ महीना शेष रहने पर उन्हीं नौ महीना के आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध करते हैं। इस प्रकार ये लेश्याओं के आठ अंश आयु बन्ध के कारण हैं। जिस अपकर्ष में जैसा जो बन्ध हो उसके अनुसार आयु का बन्ध होता है। लेश्याओं के शेष अठारह भेदों का स्वरूप निम्न है :-

अपकर्ष काल में होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यमांशों को छोड़कर बाकी के अठारह अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं यह सामान्य नियम है। परन्तु विशेष नियम यह है कि शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंश से संयुक्त जीव मरकर नियम से सर्वार्थसिद्धि जाता है तथा शुक्ललेश्या के जघन्य अंशों से संयुक्त जीव मरकर शतार-सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं और मध्यमांशों सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धि से पूर्व के तथा आनत स्वर्ग से लेकर ऊपर के समस्त विमानों में से यथा-सम्भव किसी भी विमान में उत्पन्न होता है और आनत स्वर्ग में भी उत्पन्न होता है।

**पम्मुक्कस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्सारं ।  
अवरंसमुदा जीवा, सणक्कुमारं च माहिदं ।।”**

पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव नियम से सहस्रार स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और पद्मलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। पद्मलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर और सहस्रार स्वर्ग के नीचे-नीचे तक विमानों में उत्पन्न होते हैं। पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटलों में जो चक्रनाम का इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान है, उसमें उत्पन्न होते हैं। पीतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ



मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्ग के ऋतु (ऋजु) नामक इन्द्रक विमान में अथवा श्रेणीबद्ध विमान में उत्पन्न होता है। पीतलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म— ईशान स्वर्ग के दूसरे पटल के विमल नामक इन्द्रक विमान से लेकर सनत्कुमार—माहेन्द्र स्वर्ग के द्विचरम पटल के (अन्तिम पटल के पूर्व पटल के) बलभद्र नामक इन्द्रक विमान पर्यन्त उत्पन्न होता है।

**किण्णवरसेण मुदा अवधिद्वाणम्मि अवरअंस मुदा।**

**पंचम चरिमतिमिस्से, मज्झे मज्झेण जायंते।।<sup>12</sup>**

अर्थात् कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सातवीं पृथ्वी के अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव पांचवीं पृथ्वी के अन्तिम पटल के तिमिश्रनामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। कृष्ण लेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव दोनों के (सातवीं और पाँचवीं नरक पृथ्वी के) मध्य स्थानों में यथा सम्भव योग्यतानुसार उत्पन्न होते हैं।

**नीलुक्कस्ससमुदा पंचम अधिंदयम्मि अवरमुदा।**

**बालुक संपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते।।<sup>13</sup>**

नीललेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव पाँचवीं पृथ्वी के द्विचरम पटल सम्बन्धी अन्धनामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई—कोई पाँचवें पटल में भी उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष और भी है कि कृष्णलेश्या के जघन्य अंशवाले जीव भी मरकर पाँचवीं पृथ्वी के अन्तिम पटल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्या के जघन्य अंश वाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के अन्तिम पटल सम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्या के मध्यम अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के संप्रज्वलित नामक इन्द्रक बिल के आगे और पाँचवीं पृथ्वी के अन्धनामक इन्द्रकबिल के पहले—पहले जितने पटल और इन्द्रक हैं इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

**वरकाओदं समुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स।**

**सीमंतं अवरमुदा मज्झे मज्झेण जायंते।।<sup>16</sup>**

कापोतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वी के नौ पटलों में से द्विचरम—आठवें पटल सम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई—कोई अन्तिम पटल सम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिल में भी उत्पन्न होते हैं। कापोतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वी के सीमन्त नामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। और मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वी के सीमन्त नामक इन्द्रकबिल से आगे और तीसरी पृथ्वी के द्विचरम पटल सम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल के पहले तीसरी पृथ्वी के सात पटल, दूसरी पृथ्वी के ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वी के बारह पटलों में या धम्माभूमि के तेरह पटलों में से पहले सीमान्तक बिल के आगे सभी बिलों में यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार छहों लेश्याओं में से उनके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशों के द्वारा जीवों का चार गतियों में कहाँ—कहाँ तक गमन होता है यह बताया। उपरोक्त छहों लेश्याओं के स्वामी कौन—कौन हैं यह चर्चा भी प्रसंग प्राप्त है। अतः इसका वर्णन भी यहाँ किया जा रहा है :—

**कारुकारुकारु, णीला य णील किण्हा य।**

**किण्हा य परमकिण्हा, लेस्सा पढमादिपुढवीणं।।<sup>15</sup>**

पहली धम्मा या रत्नप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का जघन्य अंश है। दूसरी वंश या शर्करा प्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का मध्यम अंश है। तीसरी मेघा बालुका प्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का उत्कृष्ट अंश और नील लेश्या का जघन्य अंश है। चौथी अंजना या पंकप्रभा पृथ्वी में नीललेश्या का मध्यम अंश है। पाँचवीं अरिष्ठा या धूमप्रभा में नीललेश्या का उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्या का जघन्य अंश हैं। छठीं मध्वी या तमप्रभा पृथ्वी में कृष्णलेश्या का मध्यम अंश है। सातवीं माधवी या महातमप्रभा पृथ्वी में कृष्णलेश्या का उत्कृष्ट अंश है।

**णरतिरियाणं आद्यो इगिविगलेतिणिण चउ असणिणस्स।**

**सणिणअपुण्ण गमिच्छे सासंण सम्मे असुहतियं।।<sup>16</sup>**

मनुष्य और तिर्यचों के सामान्य से छहों लेश्याएँ होती हैं। परन्तु विशेष रूप में एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जीवों के कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय कापोतलेश्या वाला जीव मरकर पहले नरक में जाता है तथा तेजोलेश्या सहित मरने से भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होता है। कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या सहित मरने से यथायोग्य मनुष्य या तिर्यचों में उत्पन्न होता है। संज्ञी लब्धपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच तथा अपि शब्द से असंज्ञी लब्धपर्याप्तक और सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त तिर्यच मनुष्य तथा भवनत्रिक इतने जीवों में कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। तिर्यच और मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्त्व काल के भीतर विशिष्ट संक्लेश के हो जाने पर भी ये तीन अशुभ लेश्याएँ नहीं हुआ करतीं। किन्तु उसकी विराधना करके सासादन बनने वालों के अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ ही हुआ करती हैं।

**भोगापुण्णगसम्मे काउस्सजहण्णियं हवे णियमा ।**

**सम्मे वा मिच्छे वा पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा ।।<sup>17</sup>**

भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवों में कापोतलेश्या का जघन्य अंश होता है तथा सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों के पर्याप्त अवस्था में पीत आदि तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

**अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्साहुदेसविरदतिये ।**

**तत्तो सुक्कालेस्सा अजोगिठाणं अलेस्स तु ।।<sup>18</sup>**

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त छहों लेश्याएँ होती हैं तथा देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। किन्तु इसके आगे अपूर्वकरण से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त एक शुक्ललेश्या ही होती है और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्या रहित है अर्थात् समस्त सिद्ध राशि अलेश्या—लेश्यारहित है।

**सन्दर्भ :**

1. पंचसंग्रह, प्राकृत, गाथा 1/142-43 ।
2. धवला, 1/1.1.4, 149/6 ।
3. पंचाध्यायी, गाथा 1145 ।
4. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 509 ।
5. वही, गाथा 510 ।
6. वही, गाथा 512-14 ।
7. वही, गाथा 515 ।
8. वही, गाथा 516 ।
9. वही, गाथा 517 ।
10. वही, गाथा 518 ।
11. वही, गाथा 521 ।
12. वही, गाथा 524 ।
13. वही, गाथा 525 ।
14. वही, गाथा 526 ।
15. वही, गाथा 529 ।
16. वही, गाथा 530 ।
17. वही, गाथा 531 ।
18. वही, गाथा 532 ।

\*\*\*\*\*

## संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य— काव्यप्रकाश के विशेष सन्दर्भ में

डॉ० सुमन कुमार झा

संस्कृत—काव्यशास्त्र की विकास—यात्रा में प्राकृत—काव्यसाहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राकृत जनसामान्य की भाषा एवं प्राकृत—साहित्य लोकसाहित्य के रूप में प्रसिद्ध है। साहित्यशास्त्र विशेषकर नाटक एवं नाटकशास्त्र लोक एवं लोकपरम्परा का संवाहक है। प्राचीन संस्कृत नाटकग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृतभाषा के विविध—रूप इस तथ्य के प्रमाण हैं। अतः प्राकृत काव्यसाहित्य एवं संस्कृत साहित्यशास्त्र का अन्तःसम्बन्ध सहज एवं स्वाभाविक है। अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची एवं अपभ्रंश भाषाओं में रचित प्राकृत काव्यसाहित्य विविधता एवं विशालता को लिये हुए है। उसमें भी महाराष्ट्री प्राकृत का वैशिष्ट्य सर्वथा प्रथित है। यथा—

**महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।**

**सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।।'**

महाराष्ट्री प्राकृत में रचित प्राकृत काव्यग्रन्थों से अनेक गाथाएं उदाहरण के रूप में संस्कृत साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विभिन्न सन्दर्भों, विधानों एवं तत्त्वों के निरूपण के प्रसंग में प्राप्त होती हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं में रचित समग्र—साहित्य का समानरूप से नियमन, विधि—विधान एवं मूल्यांकन की सम्पूर्ण प्रविधि प्रस्तुत करता है।

प्राचीन काल के आचार्यों, समीक्षकों, महाकवियों एवं आलंकारिकों के द्वारा समान रूप से दोनों भाषाओं में साहित्य का सृजन किया गया है। उदाहरणार्थ— आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुद्रट, राजशेखर, भोजराज, माणिक्यचन्द्र, हेमचन्द्र एवं आचार्य विश्वनाथ के द्वारा रचित साहित्य को देखा जा सकता है।

विषमबाणलीला, पंचबाणलीला, कर्पूरमंजरी, कुवलययाश्वचरित एवं चन्द्रकलानाटिका इसका प्रमाण है। रूपकसाहित्य के सन्दर्भ में नाटकशास्त्र का सत्रहवां अध्याय, दशरूपक का द्वितीय प्रकाश एवं साहित्यदर्पण का षष्ठ परिच्छेद प्राकृतरूपकसाहित्य के विधि-विधान की पूर्णमीमांसा प्रस्तुत करता है। लोक के महत्त्व को संस्कृत के आलंकारिकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में त्रिविध प्रमाणों के अन्तर्गत लोक को सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना है।

### लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।<sup>2</sup>

भरतमुनि ने लोकसिद्धता को नाट्य के लिए आवश्यक मानते हुए कवियों, रचनाकारों एवं नाटक-प्रयोक्ताओं के लिए स्पष्टरूप से लोकग्राह्यता का निर्देश प्रदान किया है।<sup>3</sup>

लोकसाहित्य की सर्वजनगम्यता के कारण आलंकारिकों ने स्वाभाविक रूप से अधिकांश काव्यशास्त्रीय तत्त्वों, पदार्थों एवं भेदोपभेदों के निर्धारण में प्राकृत-काव्यसाहित्य की गाथाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने भाषा के आधार पर काव्य का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। यथा-

### संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंशं इति त्रिधा।<sup>4</sup>

उस युग में काव्यरचना की तीन भाषाएं प्रचलित थीं- संस्कृत, प्राकृत, एवं अपभ्रंश। कवि इनमें से किसी को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकता था। काव्यभाषा के रूप में प्राकृत एवं अपभ्रंश का संस्कृत के समान समादर था। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श नामक स्वग्रन्थ में भाषा भेद से काव्य को चार प्रकार का बताया है।<sup>5</sup>

यद्यपि प्रारम्भिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों जैसे- काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्यालंकारसारसंग्रह, आदि में प्राकृत काव्यसाहित्य के उदाहरण नहीं मिलते, लेकिन इन ग्रन्थों में प्राकृत काव्य को संस्कृत एवं

अपभ्रंश के साथ रखा गया है। रुद्रट रचित ग्रन्थ काव्यालंकार में कुछ प्राकृत की गाथाएँ उदाहरण के रूप में मिलती हैं जो उनकी स्व-रचित प्रतीत होती हैं।

परवर्ती आलंकारिकों पर प्राकृतकाव्य-साहित्य का प्रचुर प्रभाव दिखता है। आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त पर सेतुबन्ध, गउडवहो, हरविजय, मधुमथनविजय, गाथासप्तशती एवं लीलावई जैसे काव्यग्रन्थों का प्रभाव सहज रूप से देखा जा सकता है। ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य के अन्तःसम्बन्ध को मैंने अपने शोधपत्र- 'ध्वन्यालोक में प्ररूपित प्राकृतविधान का वैशिष्ट्य' ('वाकोवाक्यम्' अन्ताराष्ट्रीय- संस्कृतपत्रिका में प्रकाशित) में विस्तार से वर्णन किया है।

### काव्यप्रकाश एवं प्राकृत काव्यसाहित्य :

आनन्दवर्धन के अनुयायी एवं ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मटभट्ट विरचित प्रौढकाव्यशास्त्रीयग्रन्थ काव्यप्रकाश के विभिन्न सन्दर्भों, प्रसंगों एवं काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के निरूपण में प्राकृत काव्यसाहित्य से कुल चौसठ गाथाएँ उद्धृत हैं। किसी एक ग्रन्थ में चौसठ गाथाओं का उदाहरण के रूप में उद्धरण, उस ग्रन्थ के साथ प्राकृत काव्यसाहित्य के सम्बन्ध को स्वतः प्रमाणित करता है। इन गाथाओं में से तैतालिस गाथाएँ गहासत्तसई (गाथासप्तशती) मुक्तककाव्य से, पाँच विषमबाणलीला प्राकृतकाव्य से, चार राजशेखर विरचित सट्टक कर्पूरमंजरी से, एक गउडवहो काव्य से, दो पंचबाणलीला काव्य से एवं एक देवीशतक काव्य से उदाहृत हैं।

काव्यप्रकाश के द्वितीयोल्लास में वाच्य-लक्ष्य एवं व्यंग्यार्थ की व्यंजकता के प्रसंग में 'गहासत्तसई' की तीन गाथाएँ उदाहृत हैं, यथा-

वाच्य-

माए घोबअरणं अज्ज हु णत्थिति साहिअं तुमए ।  
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो. ठाइ ।।

लक्ष्य—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूमिआसि मज्झकए ।  
सब्भावणेकर णिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥

व्यङ्ग्य—

उअ णिच्चलणिप्पंदाभिसिणी पतम्मि रेहइ बलाआ ।  
णिम्मलमरगअमाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥<sup>6</sup>

उपर्युक्त गाथों का काव्यशास्त्रीय वैशिष्ट्य सहृदयों के द्वारा सर्वथा बोधगम्य है, साथ ही प्रतीयमान—अर्थ व्यंजना व्यापार के द्वारा ध्वनित हो रहा है।

मम्मटाचार्य ने तृतीय उल्लास में आर्थीव्यंजना निरूपण के क्रम में वक्तृवैशिष्ट्यात्, बोद्धव्यवशात्, वाक्यवैशिष्ट्यात्, अन्यसन्निधिवशात्, प्रस्ताववैशिष्ट्यात्, देशवैशिष्ट्यात् एवं कालवैशिष्ट्यात् निष्पन्न होने वाले व्यङ्ग्यार्थ हेतु 'गाहासत्तसई' से छः गाथाएँ उद्धृत की हैं। यथा—

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदहि सहि तुरिअं ।  
समसेअ सलिलणीसासणी सहा वीसमामि खणं ॥  
ओण्णिदं दोव्वल्लं चिंता..... अहह परिहवइ ॥  
तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिणं ण णेसि अण्णत्तो ।  
एण्हं सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिट्ठि ॥  
णोल्लेइ अणोल्लमणा..... ण व होइ वीसामो ॥  
सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।  
एमे अ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥  
गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकं ।  
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्वसुणसि करणिज्जं ॥<sup>7</sup>

उपर्युक्त गाथाओं में अर्थगत—व्यंजकता विद्यमान है। इन गाथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि गाहासत्तसई ध्वनि—प्रधान काव्य है, अतएव ध्वनि—सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य आनन्दवर्धन नें काव्यात्म



के रूप में ध्वनितत्त्व की स्थापना हेतु सारी उदाहृत गाथाएँ 'गाहासत्तसई' से ग्रहण की हैं।

काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेदनिरूपण प्रसंग के अन्तर्गत— संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव एवं वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि के विभिन्न भेदों के उदाहरणार्थ प्राकृत—साहित्य से अठारह गाथाएँ उदाहृत हैं, जिनमें से सात गाहासत्तसई से एवं दो कर्पूरमंजरी सट्टक से गृहीत हैं। यथा—

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थल गामे ।  
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥  
अलससिरोमणि घुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति घणसमिद्धिमओ ।  
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥<sup>१</sup>

यहाँ प्रथम गाथा को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव भेद के वस्तुध्वनि भेद हेतु उपस्थापित किया है। यहाँ सत्थर, पत्थर, पओहरं इत्यादि शब्द वस्तुध्वनि के व्यंजक हैं। अतः वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ भिन्न—भिन्न हैं, व्यङ्ग्यार्थ का सौन्दर्य काव्य को उत्तमकाव्य के रूप में स्थापित करता है। द्वितीय गाथा को अर्थशक्त्युत्थध्वनि के स्वतःसम्भवी भेद के अन्तर्गत वस्तु से वस्तुरूप अर्थ की व्यंजना में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पप्फुल्लविलोअणा आदि शब्दों से निष्पन्न अर्थ के द्वारा वस्तुरूप व्यङ्ग्य उद्भासित होता है। उपर्युक्त दोनों ही गाहासत्तसई प्राकृत काव्य से गृहीत हैं।

इसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से गृहीत गाथा, यथा—

केसेसु बला मोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।  
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥<sup>१</sup>

यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध केशग्रहणरूप वस्तु से उद्वेक्षा, काव्यलिंग तथा अपह्नुति तीन अलंकार व्यङ्ग्यरूप में हैं। तत्र कविप्रौढोक्तिसिद्ध— अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य के उदाहरणाय 'गाहासत्तसई' से गृहीत गाथा, यथा—

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।  
माणं सिणीण माणो पीलणमीअ व्व हिअआहि ।।<sup>10</sup>

यहां उत्प्रेक्षा अलंकार से प्रत्यालिकन आदि वस्तु व्यङ्ग्य के रूप में व्यक्त हो रही है। वही—

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणं बुरुहबद्धविणिवेसा ।  
दावेइ मुअणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ।। <sup>11</sup>

गाहासत्तसई से गृहीत इस गाथा को मम्मटाचार्य ने अर्थशक्त्युद्भव-कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि के उदाहरण के रूप में उपस्थापित किया है। यहां स्थविरमिव हसन्ति (ठेरं व हसन्ती) इस उत्प्रेक्षा अलंकार से व्यतिरेकालंकार व्यङ्ग्य है। जड़ कमल पर बैठे हुए और नीरस जगत् को उत्पन्न करने वाले बूढ़े ब्रह्मा की अपेक्षा कविवाणी उत्कृष्ट है।

इसीप्रकार मम्मटाचार्य ने अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद के उदाहरणाय प्राकृत-साहित्य से चार गाथाएँ गृहीत की हैं, जिसमें से एक कर्पूरमंजरी सट्टक से एवं तीन गाहासत्तसई से उपस्थापित हैं, यथा—

जे लंका गिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई—  
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिददतणं ।  
ते एहिनं मलआणिला विरहणीणी साससंपक्किणो—  
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ।।<sup>12</sup>  
सहि विरइरुण माणस्स.....तेण ओसरिअं ।।<sup>13</sup>  
ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं....इमेण अक्कमिआ ।।<sup>14</sup>  
महिलासहस्सभरिए तुह.....तणुअं वि तणुएइ ।।<sup>15</sup>

उपर्युक्त चारों गाथाओं में व्यङ्ग्यार्थ कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से सिद्ध है। प्राकृत गाथाओं की रमणीयता एवं ध्वन्यमानता इन गाथाओं से सर्वथा स्पष्ट है। वही गाथाद्योत्य लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के उदाहरण के लिए 'गाहासत्तसई' की गाथा, यथा—

**खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणां ।  
हिअववअस्सबहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झंति ।।<sup>16</sup>**

यहाँ विमुज्झंति यह पद अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य है। गाथाद्योत्य संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ स्वतःसम्भवी ध्वनि के उदाहरणार्थ एक प्राकृत गाथा एवं अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्यध्वनि के उदाहरणार्थ तीन गाथाएँ तथा कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनि के उदाहरण हेतु पाँच प्राकृत गाथाएँ काव्यप्रकाशकार ने उपस्थापित किया है। इसीप्रकार रसादिध्वनि के पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से तीन प्राकृत गाथाएँ उद्धृत हैं, यथा—

**रइकेलि हिअणिअसणकरकिसलअरुद्धण अणजुअलस्स ।  
रुददस्स तइअण अणं पव्वई परिचुँबिअं जअइ ।।<sup>17</sup>**

'जअइ' (जयति) इस तिङन्त पद की प्रकृति से रस की व्यंजकता प्रदर्शित की गई है। सम्बन्धकारक अर्थात् षष्ठी विभक्ति के रसव्यंजकत्व का उदाहरण, यथा—

**गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिं ण जाणामि ।  
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ।।<sup>18</sup>**

यहां णाअरिआणं (नागरिकाणां) इस षष्ठी विभक्ति की रसव्यंजकता है। यहां 'णाअरिआणं पइणो' (नागरिकाणां पतीन) इस सम्बन्ध से नागरिकाओं से उनके पतियों के चातुर्य का और उनको भी अपने वश में कर लेने से अपने चातुर्यातिशय का बोधन व्यङ्ग्य है। 'षष्ठी चानादरे' सूत्र से अनादरार्थ में षष्ठी होने से तुम्हारी सरीखी नागरिकता का दम भरनेवालियों के सामने उनके देखते-देखते उनके पतियों को अपने वश में कर लेती हूँ इस प्रकार अपना उत्कर्ष व्यङ्ग्य है।

इसी प्रकार वचन की व्यंजकता के उदाहरण हेतु— 'गाहासत्तसई' से उदाहृत गाथा, यथा—

**ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।  
ताणं भणिआणं सुन्दर! एरिसिअं जाअमवसाणं ।।<sup>19</sup>**

यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व (नानाविधत्व) और प्रेम का (सदा समान रूप में रहने से) एकविधत्व (क्रमशः बहुवचन तथा एकवचन से) द्योत्य है। पंचमोल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणावसरे— असुन्दर नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद हेतु गाहासत्तसई से उदाहृत गाथा, यथा—

**वाणीरकुंडगुड्डीणसउणिकोलाहलं....सीअन्ति अंगाइं ।।<sup>20</sup>**

पंचमोल्लास में ही वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बीच पार्थक्यनिरूपण हेतु गाहासत्तसई से उदाहृत गाथा, यथा—

**कस्य वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं ।**

**सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हं ।।<sup>21</sup>**

इस गाथा में वाच्यार्थ सखी विषयक एवं व्यङ्ग्यार्थ के उसके पति से सम्बद्ध रूप होने से वाच्यार्थ—व्यङ्ग्यार्थ के मध्य भेद को प्रदर्शित करता है। वही लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद निरूपण हेतु प्राकृत गाथा, यथा—

**अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि ।**

**मा पहिअ! रत्तिअन्धअ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ।।<sup>22</sup>**

यहाँ बिना लक्षणा के ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। पंचमोल्लास में ही महिमभट्ट के मत खण्डन के प्रसंग में गाहासत्तसई से उदाहृत प्रसिद्ध गाथा, यथा—

**मम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।**

**गोलाणईकच्छकुंडगवासिणा दरिअसीहेण ।।<sup>23</sup>**

इस गाथा की प्रसिद्धि एवं ध्वनिसिद्धान्त के साथ इसके सम्बन्ध को सहज रूप में देखा जा सकता है। सप्तमोल्लास में वाक्यगतदोष के अन्तर्गत 'हतवृत्तता' दोष के निरूपण हेतु 'विषमबाणलीला' से उदाहृत गाथा, यथा—

जं परिहरिचं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण।  
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ।।<sup>24</sup>

सप्तम उल्लास में ही अधम प्रकृति के पात्रों की उक्तियों में ग्राम्यत्वदोष गुण हो जाता है इस तथ्य हेतु 'कर्पूरमंजरी' नामक नाटिका से उदाहृत प्राकृत गाथा, यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहंति जे सिन्धुवारविड्वा मह वल्लहा दे।  
जे गालिदस्स महिसी दहिणो सरिच्छा दे किं च  
मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा ।।<sup>25</sup>

यहाँ कलमभक्त महिषीदधिशब्दा ग्राम्य होने पर भी विदूषक की उक्ति होने से दोष नहीं है। पुनरुक्तत्व (कथितपदत्व) कहीं गुण हो जाता है, इस प्रसंग में 'विषमबाणलीला' से उदाहृत गाथा, यथा —

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।  
रइकिरणगुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ।।<sup>26</sup>

यहाँ कमलाइं कमलाइं में दूसरा कमल पद सौरभसौन्दर्यादिविशिष्ट कमल का वाचक होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है। इसी प्रकार गर्भितत्व दोष भी कहीं गुण हो जाता है इस प्रसंग हेतु 'विषमबाणलीला' प्राकृतकाव्य से उदाहृत गाथा, यथा—

हुमि अवहित्थ.....पसुमरामि ।।<sup>27</sup>

रसदोष के अन्तर्गत प्रतिकूल अनुभाव ग्रहण के प्रसंग हेतु 'गाहासत्तसई' से उदाहृत गाथा, यथा—

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि.....एव्व महइ वहू ।।<sup>28</sup>

यहाँ सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ शृङ्गार रस के विरोधी हैं। अष्टमोल्लास में अलङ्कार की काव्य में स्थिति को निरूपित करते हुए 'कर्पूरमंजरी' सट्टक से उदाहृत गाथा, यथा—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु  
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदिदिन्मुहे ।

**बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे  
झाणे ण टुट्टदिचिरं तरुणी-तरट्टी ।।<sup>29</sup>**

इस गाथा में अनुप्रासालंकार होने पर भी वह रस का उत्कर्षाधयक नहीं है। विप्रलम्भशृङ्गार में टवर्ग का प्रयोग रस का अपकर्षक है। दशमोल्लास में वाक्यगाआर्थी उपमानलुप्ता के उदाहरण हेतु 'गाहासत्तसई' से उदाहृत प्राकृत गाथा, यथा—

**सअलकरण परवीसामंसि.....सरिसं अंसंसमेत्तेण ।।<sup>30</sup>**

वहीं—

**टुण्टुण्णन्तो मरिहसि.....भमन्तो ण पाविहिसि ।।<sup>31</sup>**

मालतीकुसुमसरिच्छ, यह समस्तपद होने से समासगा उपमालंकार है। दशम उल्लास में ही एकदेशविवर्तिरूपक के उदाहरण हेतु 'गाहासत्तसई' से उद्धृत गाथा, यथा—

**जस्य रणन्तेउए.....होइ रिउसेणा ।।<sup>32</sup>**

समासोक्ति अलंकार के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से उद्धृत गाथा, यथा—

**लहिउफण तुज्झ बाहुप्पफंसं जीए स को बि उल्लासो ।**

**जअलच्छी तुह विरहे ण हूज्जला दुव्वला णं सा ।।<sup>33</sup>**

यहाँ जयलक्ष्मी शब्द केवल कान्ता का ही वाचक नहीं है। अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरणार्थ —

**अण्णं लडहत्तणअं अण्णा विअ.....च्चिअ ण होई ।।<sup>34</sup>**

यहाँ अण्ण शब्द से अतिशयोक्ति की व्यंजना की गई है।

दीपकालंकार के प्रसंग में—

**किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केसरई सीहाणं ।**

**कुलवालिआणं त्थणआ कुत्तो छिप्पन्ति अमुआणं ।।<sup>35</sup>**

यहाँ 'छिप्पन्ति' पद से क्रियादीपकालंकार व्यक्त होता है। वहीं आक्षेपालंकार के प्रसंग में, यथा—

ए एहि किपि कीएवि.....मरउ ण भणिसं ।।<sup>36</sup>

वही सहोक्ति अलंकार के उदाहरणार्थ 'कर्पूरमंजरी' सट्टक से उदाहृत गाथा, यथा—

सह दिअहणिसाहिं दीहरा सासदण्डा सह मणिवलयेहिं  
वाप्पधरा गलन्ति । ..... दुव्वला जीविदासा ।।<sup>37</sup>

पर्यायालंकार के उदाहरणार्थ— 'विषमबाणलीला' से उद्धृत गाथा—

तं ताण सिरिसहोअर.....कुसुमबाणेन ।।<sup>38</sup>

प्राकृतभाषा में द्वि वचन का नियम नहीं होता, इसलिए एक ही मोहिनी के लिए 'पिआणं' (प्रियाणा) यह बहुवचन प्रयुक्त किया गया है।

तत्रैव अन्योन्य अलंकार के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से उद्धृत गाथा, यथा—

हंसाणं सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं ।  
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गुरुअन्ति ।।<sup>39</sup>

यहाँ एक—दूसरे की श्रीवृद्धि के द्वारा दोनों एक दूसरे के कारण (जनक) हैं।

'उत्तरालंकार' के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से उदाहृत गाथा, यथा—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।  
किं सौखं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ।।<sup>40</sup>

वही असंगति अलंकार के उदाहरणार्थ 'गाहासत्तसई' से उद्धृत गाथा—

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा मणइ तं जणो अलिअं ।  
दन्तक्खअं कवोलं वहूए वेअणा सवत्तीणं ।।<sup>41</sup>

स्मरणालंकार के उदाहरणार्थ प्राकृत गाथा, यथा—

करजुअगहिअजसोआत्थण.....रोमांचं ।।<sup>42</sup>

प्रतीपालंकार के उदाहरणार्थ प्राकृत गाथा, यथा—

ए एहि दाव सुन्दरि.....चन्दो उअमिज्जह जणेण ॥<sup>43</sup>

विशेषालंकार के उदाहरण प्रसंग में प्राकृत गाथा, यथा—

सा वसइ तुज्झ.....कथ पावाणं ॥<sup>44</sup>

अतद्गुण अलंकारनिरूपणप्रसंग में उदाहृत प्राकृत गाथा, यथा—

ध्वलोसि जहवि सुन्दर.....णिहित्तो ण रत्तोसि ॥<sup>45</sup>

संसृष्टि अलंकार निरूपण के प्रसंग में—

सीणत्थि एत्थ गामे जो एअं.....णिवारेइ ॥<sup>46</sup>

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित साहित्य का विशिष्ट एवं उच्च स्थान है, जो इसे संस्कृत साहित्य के समान प्रतिष्ठापित करता है। इसलिए आलंकारिकों ने संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य की समान रूप से प्रशंसा एवं सराहना की है। प्राकृत के साहित्यिक गाथाओं में अलंकारों की बड़ी सुन्दर एवं सरस विच्छित्ति पाई जाती है, फलतः संस्कृत के आलंकारिकों ने अलंकारों एवं ध्वनि के भेदोपभेदों के लक्षणों में लक्ष्य की संगति के लिए प्राकृत साहित्य के गाथाओं को प्रचुरता से उदाहृत किया है। संस्कृत के प्राचीन कवियों, नाटककारों, कथाकारों, आलोचकों एवं आलंकारिकों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है जिन्होंने प्राकृत के प्रति या तो स्वयं प्राकृत में रचना करके या अन्यरचित गाथाओं को उदाहृत करके प्राकृत साहित्य के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट किया है। साथ ही प्राकृत साहित्य के काव्यशास्त्रीय वैशिष्ट्य एवं साहित्यिक सौन्दर्य के कारण उत्तमकाव्य के रूप में अंगीकार किया है।

**सन्दर्भ :**

1. काव्यादर्श, दण्डी, 1—34
2. नाट्यशास्त्र, 25—122
3. वही, 25—121, 123, 127/अ. 5—165
4. काव्यालङ्कार, 1—16



42 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

5. काव्यादर्श, 1-32
6. (क) काव्यप्रकाश, द्वितीयोल्लास, उदा. सं. 6,7,8,  
(ख) गाथासप्तशती, गा., 389, 640, 1-4
7. (क) काव्यप्रकाश, तृतीयोल्लास, उदा. सं. 13,14,16,18,19,21  
(ख) गाथासप्तशती, गा., 989, 956, 939, 875,162, 851
8. (क) गाथासप्तशती, गा., 879, 970  
(ख) काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास, उदा. सं. 58,60
9. (क) गाथासप्तशती, 979  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 65
10. (क) गाथासप्तशती, 934  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 66
11. (क) गाथासप्तशती, 982  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 67
12. (क) कर्पूरमंजरी, 1-19,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 68
13. (क) गाथासप्तशती, 936,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 69
14. (क) गाथासप्तशती, 971  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 70
15. (क) गाथासप्तशती, 2-82,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 71
16. (क) गाथासप्तशती, 978,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 74
17. (क) गाथासप्तशती, 5-53,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 97
18. (क) गाथासप्तशती, 705,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 101
19. (क) गाथासप्तशती, 940,  
(ख) काव्यप्रकाश, 4, उदा. सं. 102
20. (क) गाथासप्तशती, 876,  
(ख) काव्यप्रकाश, 5, उदा. सं. 132
21. (क) गाथासप्तशती, 886  
(ख) काव्यप्रकाश, 5, उदा. सं. 135
22. काव्यप्रकाश, 5, उदा. सं. 136
23. (क) गाथासप्तशती, 2-75,  
(ख) काव्यप्रकाश, 5, उदा. सं. 138
24. काव्यप्रकाश, 7, उदा. सं. 217

25. (क) कर्पूरमंजरी, 1-19,  
(ख) काव्यप्रकाश, 7, उदा. सं. 310
26. काव्यप्रकाश, 7, उदा. सं. 316
27. काव्यप्रकाश, 7, उदा. सं. 321
28. (क) गाथासप्तशती, 9-87  
(ख) काव्यप्रकाश, 7, उदा. सं. 329
29. (क) कर्पूरमंजरी, 2-4  
(ख) काव्यप्रकाश, 8, उदा. सं. 343
30. (क) गाथासप्तशती, 995  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 401
31. (क) गाथासप्तशती, 985  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 408
32. (क) गाथासप्तशती, 980  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 423
33. (क) गाथासप्तशती, 428  
(ख) काव्यप्रकाश, 10-उदा. सं.-428
34. (क) गाथासप्तशती, 969,  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 451
35. (क) गाथासप्तशती, 976  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 458
36. (क) गाथासप्तशती, 472  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 472
37. (क) कर्पूरमंजरी, 2-9  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 496
38. काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 516
39. (क) गाथासप्तशती, 953  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 428
40. (क) गाथासप्तशती, 975  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 530
41. (क) गाथासप्तशती, 981  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 534
42. (क) गाथासप्तशती, 974  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 552
43. (क) गाथासप्तशती, 972  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 555
44. (क) गाथासप्तशती, 947  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 561

44 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

45. (क) गाथासप्तशती, 6-75,  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 565
46. (क) गाथासप्तशती, 917  
(ख) काव्यप्रकाश, 10, उदा. सं. 570

\*\*\*\*\*

## जैन श्रमणी—संघ और नारी उत्थान

डॉ० शीला सिंह

वर्तमान समय में हम महिलाओं की स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि तमाम प्रयासों के बाद भी आज नारी अपनी स्वतंत्रता के लिए जूझ ही रही है। परन्तु आंकड़ों पर दृष्टि डालें तो स्थिति काफी संतोषजनक दिखती है। वह निरन्तर सफलता की नयी सीढ़ियाँ चढ़ रही है। विश्व-पटल पर विभिन्न क्षेत्रों में वह सशक्त हस्ताक्षर बनकर उभरी है। चुनौतियों का वह सफलतापूर्वक सामना कर रही है। कानून ने उसे बहुत से अधिकार भी दे रखे हैं। लेकिन क्या सच में ऐसी स्थिति है! कुछ प्रतिशत महिलाओं की बात छोड़ दें तो सामान्य महिला को समाज में कितनी स्वायत्तता है? महिलाएं आज भी दहेज की बलि चढ़ रही हैं। आज भी बलात्कार की शिकार महिलाओं की संख्या कम नहीं हो रही है। बात चाहे पारिवारिक उत्पीड़न की हो या परिवार की प्रतिष्ठा बचाने के नाम पर आनर किलिंग की; शिकार महिलाएं ही हो रही हैं। ऐसी स्थिति में, दृष्टि स्वतः ही जैनधर्म की ओर चली जाती है, जहाँ श्रमणी—संघ के माध्यम से नारी—उत्थान और नारी—सशक्तीकरण का कार्य हजारों वर्षों से सफलतापूर्वक किया जा रहा है।

उत्तर वैदिक काल में आडम्बर और पाखंड से ऊबी जनता को बौद्ध और जैन धर्म के उदय से मानो नयी ऊर्जा मिली। समानान्तर विकसित हुए इन दोनों धर्मों में काफी समानता थी। दोनों ने ही अहिंसा के शीतल जल से दहकती धरा को पुनर्जीवित करने का कार्य किया। जैनधर्म के उदय से एक और समाज फिर से जी उठा, जो घोर दुर्दशा के दौर से गुजर रहा था, वह था नारी—समाज। श्रमणी—संघ और श्राविका—संघ के रूप में उन महिलाओं को ऐसा सुदृढ़ आश्रय मिला, जिसने उनके जीवन को एक नयी दिशा दी। श्रमण—परम्परा के निर्वाहक इन दोनों धर्मों में बौद्ध की अपेक्षा जैनधर्म में महिलाओं की स्थिति अधिक अच्छी थी। जैनधर्म में श्रमणी—संघ की स्थापना श्रमण—संघ के साथ ही हुई थी। उत्तराध्ययन' के अनुसार पार्श्व की

परम्परा के भिक्षु एवं भिक्षुणियों को विधिवत रूप से पंचमहाव्रत ग्रहण करवाकर महावीर द्वारा संघ में सम्मिलित करने का उल्लेख है। अतः महावीर स्वामी के पूर्व ही श्रमणी-संघ की स्थापना सिद्ध होती है।

जैन-संघ में श्रमणियों को बहुत महत्त्व दिया गया है। अंग साहित्य में 'भिक्षु वा-भिक्षुणी वा' तथा 'निग्गन्थ वा निग्गन्थी वा' का उद्घोष नारी की महत्ता को सिद्ध करता है। यही कारण रहा है कि आरम्भ से ही श्रमणियों और श्राविकाओं की संख्या क्रमशः श्रमणों और श्रावकों से अधिक रही है। महावीर स्वामी के समय श्रावकों की संख्या 1,59,000 तथा श्राविकाओं की 3,18,000 थी। केवल जैनधर्म ही ऐसा रहा, जहाँ न केवल नारी-मुक्ति और नारी-दीक्षा को स्वीकार किया गया, अपितु 'मल्लि' को स्त्री-तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद से विभूषित किया गया। यह जैनधर्म की नारी के प्रति सम्मान एवं आदर-भावना को सूचित करता है।

स्थानांग<sup>२</sup> तथा उसकी टीका में ऐसे दस सामान्य कारणों का उल्लेख है, जिनसे लोग दीक्षा ग्रहण करते थे-

1. छन्दा (स्वेच्छा से)
2. रोसा (आवेश से)
3. परिजुण्णा (दरिद्रता से)
4. सुविणा (स्वप्न से)
5. पडिस्सुया (प्रतिज्ञा लेने से)
6. सारणिया (स्मरण से)
7. रोगिणिया (रोग होने से)
8. अणाढिया (अनादर से)
9. देवसण्णत्ती (देवता के उपदेश से)
10. वोच्छाणुबंधिया (पुत्र-स्नेह से)

इसके अतिरिक्त प्रव्रज्या-ग्रहण करने के अन्य कारण भी थे, जैसे- बिना मेहनत किये उत्तम भोजनादि की प्राप्ति (इहलोगपरिबद्धा),

स्वर्गलोक में सुख की इच्छा, सदगुरुओं की सेवा के लिए (उवायपवज्जा), ऋण से मुक्ति पाने के लिए (मोयावइत्ता) तथा कभी—कभी एक—दूसरे की देखा—देखी (संगारपव्वज्जा) के कारण भी प्रव्रज्या ले ली जाती थी।<sup>3</sup>

इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त और भी कुछ कारण थे, जिनसे प्रेरित होकर महिलाओं ने श्रमणी—संघ में प्रवेश लिया था। पति की मृत्यु हो जाने पर या पति द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर पत्नियाँ भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती थीं। उत्तराध्ययन सूत्र<sup>4</sup> में राजीमती का उदाहरण मिलता है, जिसके अनुसार उसने यह समाचार पाकर कि उसके भावी पति श्रमण हो गये हैं, श्रमणी बनने का निश्चय कर लिया। इसी प्रकार वाशिष्ठी<sup>5</sup> का उल्लेख मिलता है, जिसने पति और पुत्रों को प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए देखकर संसार का त्याग किया था। उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार मदन—रेखा जब गर्भवती थी, उसके पति की हत्या कर दी गयी, इस कारण उसने संन्यास ग्रहण कर लिया।<sup>6</sup> यशभद्रा के पति के ऊपर भी आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप भयभीत होकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर लिया।<sup>7</sup> उत्तरा ने अपने भाई आचार्य शिवभूति का अनुसरण करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण किया।<sup>8</sup>

इसी प्रकार बाल विधवा धनश्री ने भी भाई के साथ ही संन्यास लिया।<sup>9</sup> स्थूलभद्र की सातों बहनों ने भी भाई का अनुसरण करते हुए संन्यास ग्रहण किया था। ज्ञाताधर्मकथा में पोट्टिला<sup>10</sup> तथा सुकुमालिका<sup>11</sup> के प्रव्रज्या लेने का कारण पति का प्रेम न मिल पाना था।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें महिलाओं ने कभी दूसरों से प्रभावित होकर तथा कभी स्वयं ही प्रेरित होकर श्रमणी—संघ स्वीकार किया। संघ में प्रवेश लेने वाली महिलाएं समाज के प्रत्येक वर्ग से थीं। संघ में प्रवेश लेने हेतु नारी के उम्र की अन्तिम सीमा निर्धारित नहीं थी। हाँ, आठ वर्ष से कम उम्र की कन्या को दीक्षा—ग्रहण का अधिकार नहीं था।<sup>12</sup> संघ में प्रवेश के लिए वर्ण या जातिगत भेदभाव नहीं था। क्षत्रिय<sup>13</sup>, ब्राह्मण<sup>14</sup>, वैश्य<sup>15</sup> तथा शूद्र जाति की महिलाओं के दीक्षाग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।

एसे भी उल्लेख मिलते हैं कि श्रमणी—संघ में प्रवेश लेने वाली महिलाएं प्रायः वे थीं, जिनकी स्थिति समाज में काफी दयनीय थी, जिसका विवाह किसी कारणवश नहीं हो पा रहा था। किन्तु इसपर जैन विद्वान सहमत नहीं हैं।

वैधव्य का जीवन व्यतीत कर रही महिलाओं और पति के प्रेम से वंचित महिलाओं के लिए भी श्रमणी संघ की स्थापना किसी वरदान से कम नहीं था। कुछ ऐसी भी महिलाएं थीं, जो आध्यात्मिक कारणों से अध्ययन के प्रति अत्यधिक रुचि रखने के कारण संघ में शामिल हुई थीं।

संघ ने नारी के लिए एक जो बड़ा काम किया, वह था— उन्हें शिक्षा प्राप्त का अवसर देना। शिक्षा प्राप्त करने से नारियों के जीवन में नये युग का सूत्रपात हुआ। संघ में प्रविष्ट होने के पश्चात् श्रमणी सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर भयरहित जीवन व्यतीत करती थी। यही नहीं पूर्णतः सुरक्षित श्रमणी को संघ में विद्याध्ययन के लिए समस्त सुविधाएं और परिस्थितियाँ सुलभ करायी गयी थीं, जिनका परिणाम यह रहा कि श्रमणियों ने अनेक ग्रंथों का अध्ययन, प्रणयन किया और अपने ज्ञान की पताका फहराई। अन्तकृद्दशा आदि आगमग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिसमें भिक्षुणियों के द्वारा सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया गया था, केवल 'दृष्टिवाद' का अध्ययन उनके लिए निषिद्ध माना गया था। श्रमणियों के शिक्षित होने पर शिक्षा का प्रसार सामान्य नारियों तक पहुँचा है। श्रमणियों द्वारा गृहस्थ महिलाओं को शिक्षा एवं धर्म के उपदेश दिये जा रहे हैं, क्योंकि इसके पूर्व श्रमणों को स्त्रियों को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था।<sup>16</sup> श्रमणियों ने दूसरे दुःखी एवं पीड़ित लोगों को कल्याण के लिए धर्म का आश्रय लेने हेतु प्रेरित किया है। संयमित एवं सम्माननीय जीवन व्यतीत करती इन श्रमणियों ने देश और विदेशों में धर्मोपदेश दिये हैं। इनके द्वारा दिखाये गये मार्ग और दिये गये उपदेशों ने पीड़ित महिलाओं के जीवन में संजीवनी का काम किया है। आत्मविश्वास से भरी महिलाओं को श्रमणी—संघ ने अपने ज्ञान एवं बुद्धि का पूरा उपयोग करने का अवसर दिया, जिससे जैनधर्म का प्रसार ही नहीं,

सम्पूर्ण देश, अन्ततः सम्पूर्ण मानवता का कल्याण हो रहा है, अतः महिला—शिक्षा के क्षेत्र में श्रमणी—संघ की प्रासंगिकता स्पष्ट है।

यह विदित है कि जैनधर्म का उदय ऐसे समय में हुआ जब समाज में नारी की स्थिति अच्छी नहीं थी, पवित्रता या शुद्धता को लेकर उनको विभिन्न धार्मिक क्रियाओं से वंचित किया जा रहा था। जन्म से मृत्यु तक वह पुरुषों के नियन्त्रण में रहकर तमाम पीड़ा सह रही थी। सामाजिक परिस्थितियों के कारण समाज में सदा से ही पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, कोई भी काल या धर्म इसका अपवाद नहीं रहा, किन्तु श्रमणी—संघ की स्थापना ने इस भेददृष्टि को काफी हद तक कम किया। अब पुत्री पिता के लिए भारस्वरूप नहीं है, अपितु संघ में प्रविष्ट होकर उनके लिए गौरव का कारण बनी है। श्रमणी—संघ नारियों की स्वाभिमान—रक्षा के लिए अनेक सराहनीय कदम उठा रहा है।

यद्यपि संघ में श्रमणी की शीलरक्षा के लिए उचित व्यवस्था की जाती थी, श्रमण—संघ पर भी इसकी जिम्मेदारी थी, तथापि आगमिक व्याख्याओं में ऐसी घटनाओं के भी उल्लेख आये हैं, जब महिलाओं एवं श्रमणियों के साथ जबरदस्ती की गयी। ऐसी स्थिति में भी संघ द्वारा उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाता था तथा गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा की जिम्मेदारी वहन की जाती थी। बच्चे को पालने के पश्चात् श्रमण—संघ को सौंपकर श्रमणी पुनः संघ में प्रवेश पा लेती थी।<sup>17</sup> ऐसी श्रमणी की आलोचना या तिरस्कार का अधिकार किसी को नहीं था। ऐसा करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

श्रमणी—संघ की उक्त व्यवस्था से वर्तमान समय में इस तरह के उत्पीड़न से त्रस्त नारी समाज का बड़ा ही हित हो सकता है।

तत्कालीन समाज में सतीप्रथा नारी उत्पीड़न का सबसे वीभत्स रूप बन चुका था, निशीथचूर्णि<sup>18</sup> में एक ऐसा उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार सौपारक के पाँच सौ व्यापारियों द्वारा कर न देने के कारण राजा ने उन्हें जला देने का आदेश दे दिया था। उक्त उल्लेख के



अनुसार उन व्यापारियों की पत्नियाँ भी उनकी चिताओं में जल गयी थीं, यद्यपि जैनाचार्यों द्वारा इसका समर्थन नहीं किया जाता है। आगमिक व्याख्याओं में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि के कुछ ऐसे उल्लेख हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए देह-त्याग किया गया।<sup>19</sup>

श्रमणी-संघ ने इस कुप्रथा को रोकने में काफी अहम भूमिका निभाई। आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख हुए हैं, जिनमें पति की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर नारियों ने श्रमणी बनने का निर्णय लिया।

निश्चित रूप से एक बड़ी कुप्रथा, जिसमें कभी धर्म के नाम पर स्त्रियों को जीवित रूप में ही जलने पर विवश किया जाता था; जिस अमानवीय कृत्य को रोकने हेतु तमाम सामाजिक संस्थाओं, समाज सुधारकों ने न जाने कितने प्रयास किये, उनको रोकने में श्रमणी-संघ पूर्णतः सफल सिद्ध हुआ है। विधवा, परित्यक्ता अथवा आश्रयहीन नारियों के लिए शरणदाता बने इस संघ के कारण ही जैनधर्म में सतीप्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला।

दहेज जैसी कुप्रथा, जिसमें आज भारतीय समाज झुलस रहा है; जैनधर्म में फल-फूल नहीं पाई तो उसका कारण यह श्रमणी-संघ ही है। पिता के पास दहेज देने का सामर्थ्य न होने पर नारियों ने अविवाहित रहने को श्रेयस्कर समझा। जैन श्रमणी-संघ ने न केवल उन्हें समाज के तानों से बचाया है, बल्कि उनको आश्रय देकर उनके आत्म-सम्मान और सतीत्व की रक्षा की है।

किसी प्रकार की प्रताड़ना, अपमान और यातना को सहन करने की बजाय नारी ने अपने दुःखों का निदान संघ में खोजा।<sup>20</sup> इस कारण तनाव और कुंठा की जो स्थिति की वर्तमान परिणति आज आत्महत्या के रूप में प्रतिदिन समाचारों में देखने सुनने को मिल रही है; इसका जैनधर्म में पूरी तरह अभाव है। श्रमणी-संघ ने नारी के पर्याय के रूप

में मानी जाती रही संत्रास, पीड़ा कुण्ठा को स्वतंत्र एवं बहुमुखी प्रतिभायुक्त व्यक्तित्व में बदल दिया है।

यही नहीं, जैनधर्म ने तो नैतिक मर्यादाओं का पालन करने वाली अनेक वैश्याओं और गणिकाओं, जिनका स्थूलभद्र इत्यादि के संदर्भ में उल्लेख है<sup>21</sup>, को स्वीकारा। उन्हें संघ में प्रवेश देकर श्राविका बनाया। 'कोशा' नामक एक वेश्या का उल्लेख मिलता है, जिसकी शाला में जैनमुनि, आचार्य से अनुमति लेकर चातुर्मास व्यतीत करते थे। गणिकाओं द्वारा जिन—मंदिर और आयाभट्ट (पूजाभट्ट) बनाने में सहयोग करने का उल्लेख मथुरा के अभिलेखों में प्राप्त होता है।<sup>22</sup>

यहाँ एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक लगता है, जिसकी आज के समय में बहुत प्रासंगिकता है, वह है—दुर्व्यसनों से युवा पीढ़ी को दूर रखने में श्रमणी—संघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका! जैन समाज निश्चित रूप से बधाई का पात्र है कि यहाँ नशाखोरी जैसी समस्या नहीं है और यदि कहीं है भी तो अत्यल्प। श्रमण—श्रमणियों के प्रति श्रद्धाभाव तथा उनके उपदेशों को अपनाने के कारण ही समाज की तमाम बुराइयों से यह अभी बचा हुआ है।

इस प्रकार जैन श्रमणी—संघ द्वारा समाज की महिलाओं के उत्थान के लिए अनेक कार्य किये जा रहे हैं। दहेज, सतीप्रथा जैसी कुप्रथाओं का अन्त हो चुका है तथा नारी—शिक्षा के माध्यम से उनको जागरूक एवं सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है। बालक—बालिका का भेद समाप्तप्राय है।

महिलाओं में अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले तनाव, तत्पश्चात् आत्महत्या जैसे कृत्यों को आध्यात्मिक उपदेशों द्वारा रोकने में जैन श्रमणी—संघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 21वीं शती में भी विधवा, परित्यक्ता, बलात्कार की शिकार एवं अन्य तरह से उत्पीड़ित महिला को घृणित दृष्टि से देखने तथा तिरस्कृत करने वाले समाज के लिए जैन—श्रमणी संघ एक आदर्श उपस्थित करता है तथा अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता है। वास्तव में उत्थान के पर्याय पुनः श्रमणी संघ का भारतीय नारी समाज सदा ऋणी होगा।

52 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

**सन्दर्भ :**

1. उत्तराध्ययन, 23/87
2. स्थानांग, 10/212, टीका भाग 5, पृ० 365-66
3. स्थानांग, 3/157
4. उत्तराध्ययन, 22वां अध्याय
5. वही, 14वां अध्याय
6. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० 136-40
7. आवश्यक निर्युक्ति, 1283 एवं बृहत्कल्पभाष्य, पंचम भाग, 5099
8. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० 181
9. आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० 526-27
10. ज्ञाताधर्मकथा, 1/14
11. वही, 1/16
12. स्थानांग, 10/24
13. उत्तराध्ययन सूत्र, 14/53, अन्तःकृद्दशांगसूत्रम्, 5/118
14. वही
15. ज्ञाताधर्मकथा, 2/1/3
16. तम्हा उ वज्जए हत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा।  
ओए कुलाणि वसवती, आघाए ण से वि णिग्गंथे। सूत्रकृतांग, सं मधुकर  
मुनि,सूत्रांक 257 (1.1.4.11)
17. निशीथचूर्णि भाग-1, पृ० 129
18. वही, भाग-2, पृ० 59-60 एवं भाग-4
19. आवश्यकचूर्णि, भाग-1, पृ० 318
20. ज्ञाताधर्मकथा-14/8 तथा 16/11 एवं उत्तराध्ययन-13
21. आवश्यकचूर्णि, भाग-1, पृ० 554-55
22. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-2, अभिलेख क्रमांक-8

\*\*\*\*\*

## ‘श्रमण परम्परा, अहिंसा एवं शान्ति’

विषयक राष्ट्रीय कार्यशाला में प्रदत्त व्याख्यानों का संक्षिप्त विवरण

डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय

इस कार्यशाला का उद्घाटन 30 दिसम्बर 2014 दिन मंगलवार को हुआ। उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रतिकुलपति प्रो० युदनाथ प्रसाद दूबे थे एवं अध्यक्ष दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व विभागाध्यक्ष तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के लाइफ टाइम अचीवमेण्ट अवार्डी प्रो० अशोक कुमार चटर्जी थे।

मुख्य अतिथि पद से सम्बोधित करते हुए प्रो० यदुनाथ प्रसाद दूबे ने कहा कि भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता अनेकता में एकता है। हमें हमारे ऋषियों, अर्हंतों के मूल वचनों को समग्र परिवेश में समझना होगा। विभिन्न परम्पराओं के मूल ग्रन्थों में कोई विभाजक रेखा नहीं है। जो विसंगतियाँ पैदा हुई हैं, वह कालान्तर में उसकी व्याख्याओं एवं मूल के हार्द्र को न समझने के कारण हुई हैं। विभिन्न परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आदि का नाम सम्मान के साथ लिया गया है। अतः उनकी दृष्टि विभेदात्मक नहीं हो सकती। प्रो० दूबे ने कहा कि अहिंसा एवं शान्ति कोई बाजार में मिलने वाली वस्तु नहीं है, वरन् आत्मावलोकन से प्राप्त होती है।

अध्यक्षता करते हुए प्रो० अशोक कुमार चटर्जी ने श्रमण परम्परा की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति की परिचर्चा में श्रमण एवं ब्राह्मण परम्पराओं की चर्चा एक संगम के रूप में प्राप्त होती है जबकि यह संगम नहीं अपितु एक त्रिवेणी है। इसमें तांत्रिक परम्परा का उतना ही महत्त्व है जितना कि सरस्वती का गंगा-यमुना संगम में। उन्होंने बताया कि वस्तुतः अहिंसा एक उदासीन शब्द या भाव है। हिंसा और अहिंसा की सीमा का परस्पर निर्धारण वैयक्तिक एवं परिस्थितिजन्य है।

54 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

इस अवसर पर कार्यशाला के परामर्शदाता पालि एवं बौद्ध साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् तथा पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० विमलेन्द्र कुमार ने कहा कि श्रमण परम्परा की जैन एवं बौद्ध दोनों विधाएँ जिस रूप में अहिंसा एवं शांति का मार्ग प्रदर्शित करती हैं, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। प्रो० कुमार ने अहिंसा एवं शांति के संदर्भ में श्रमण परम्परा की भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला।

इस अवसर पर कार्यशाला के निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह ने कार्यशाला के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि वर्तमान परिदृश्य में श्रमण परम्परा की दोनों विधाएँ अहिंसा, शान्ति एवं विश्वबन्धुत्व के संदर्भ में अत्यन्त ही प्रासंगिक हैं। जैन व बौद्ध विद्या के विविध आयामों को हृदयंगम कर व्यावहारिक स्तर पर समाज को सदाचरण की ओर प्रवृत्त करना ही इस कार्यशाला का उद्देश्य है।

31 दिसम्बर, 2014 से 11 जनवरी 2015 तक कुल 37 व्याख्यान हुए। सभी व्याख्यानों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

### **1. भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की विशेषताएँ : श्रमण परम्परा के विशेष संदर्भ में :**

यह व्याख्यान प्रो० अरविन्द कुमार राय, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी का था। प्रो० राय ने बताया कि ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा में भेद विशेष की दृष्टि से है। स्याद्वाद केवल जैन दर्शन के लिए ही नहीं अपितु समस्त चिन्तन धाराओं के लिए महत्त्वपूर्ण है। स्याद्वाद के बिना मूल चिन्तन सम्भव नहीं है। कोई भी दृष्टि पूर्णतः असत्य नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भारतीय परम्परा के समग्र पटल पर जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों ही परम्पराएँ तप प्रधान हैं। तप भारतीय संस्कृति का प्राण है। जैन परम्परा में तप से ही निर्जरा होती है। ब्राह्मण परम्परा में कामनाओं की पूर्ति के लिए भी तप का विधान है।

प्रो० राय ने बताया कि ब्राह्मण परम्परा में धर्म प्रचारक का राग-द्वेष से मुक्त होना अनिवार्य है और श्रमण परम्परा में जिन या अर्हत् भी राग-द्वेष से मुक्त होते हैं। अवतारवाद दोनों परम्पराओं में है। जहाँ जैन और बौद्ध अवतार मनुष्य हैं, वहीं ब्राह्मण धर्म में मत्स्य, शूकर, नरसिंह, कच्छप इत्यादि अवतार भी हैं। अतः श्रमण परम्परा को समझे बिना सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को नहीं समझा जा सकता।

**2. जैन सम्प्रदाय :** यह व्याख्यान मानव संस्कृति शोध संस्थान के सचिव डॉ० झिनकू यादव का था। डॉ० यादव ने अपने व्याख्यान में तीर्थंकरों की चौबीसी का वर्णन करते हुए कुलकर परम्परा के बारे में बताया जो कि श्वेताम्बर मत में सात तथा दिगम्बर मत में चौदह हैं। उन्होंने बताया कि ऐतिहासिक साक्ष्य केवल पार्श्वनाथ एवं महावीर के प्राप्त होते हैं। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ चातुर्याम सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। चातुर्याम सम्प्रदाय सत्य, अहिंसा, अस्तेय एवं अपरिग्रह — इन चार महाव्रतों को मानता है। जबकि 24वें तीर्थंकर महावीर ने ब्रह्मचर्य को पंचम याम के रूप में स्वीकार कर पंचमहाव्रत का प्रवर्तन किया।

डॉ० यादव ने बताया कि कुछ विद्वान् महावीर के समय में ही सम्प्रदाय भेद मानते हैं। कुछ लोग स्वयं को पार्श्वनाथ की परम्परा का मानते थे और कुछ लोग महावीर की परम्परा को। परन्तु वीर निर्माण से 609 तक जैन धर्म में किसी प्रकार के भेद का ऐतिहासिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। कल्पसूत्र में महावीर के पश्चात् गणधर गौतम, आर्य सुधर्मा, आर्य जम्बू, आर्य भद्रबाहु, आर्य स्थूलभद्र, आर्य रक्षित इत्यादि 19 आचार्यों की परम्परा प्राप्त होती है।

आर्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे। दुर्भिक्ष के कारण अपने 12000 शिष्यों के साथ समण बेलगोल चले गये। दुर्भिक्ष काल समाप्त होने पर जब वापस आये तो उन्हें यहाँ के जैन आचार में शिथिलता प्रतीत हुई और इस प्रकार मतभेद के कारण श्वेताम्बर व दिगम्बर दो सम्प्रदायों का उदय हुआ। डॉ० यादव ने अपने व्याख्यान

में 84 चैत्यवासी मुनियों, उनकी परम्परा एवं संस्कृति का सविस्तार उल्लेख करते हुए 63 श्लोका पुरुषों— 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव का भी उल्लेख किया। इसी क्रम में डॉ० झिनकू यादव ने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के स्थानकवासी, तेरापंथी, तारणपंथी, बीसपंथी इत्यादि प्रभेदों का भी उल्लेख किया।

### 3. जैन धर्म का प्रारम्भिक इतिहास :

यह व्याख्यान कार्यशाला निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह द्वारा दिया गया। उन्होंने बताया कि जैन परम्परा जगत् को अनादि और अनन्त मानती है। यह दृश्यमान जगत् कालचक्र के रूप में सदैव गतिशील है। यह कालचक्र दो भागों में विभक्त है— उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। वर्तमान काल अवसर्पिणी का है। सात कुलकर प्रथम शासक हैं। अपने व्याख्यान में डॉ० अशोक कुमार सिंह ने बताया कि ऋषभदेव इस संस्कृति के संस्थापक हैं। अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ भी महावीर के पूर्व तीर्थकरों में पौराणिक और ऐतिहासिक दृष्टि से मान्य हैं।

### 4. जैन परम्परा में योग एवं ध्यान :

यह व्याख्यान भी डॉ० अशोक कुमार सिंह द्वारा दिया गया। उन्होंने बताया कि उपनिषदों में ब्रह्म की प्राप्ति, बौद्ध परम्परा में बोधिसत्व की प्राप्ति तथा जैन परम्परा में मोक्ष की प्राप्ति लक्ष्य का है। जैन परम्परा में योग बन्ध का कारण है। मन, वचन व शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्म प्रदेशों की प्रवृत्ति जिससे परमाणुओं का बन्ध होता है, वह योग है। इस क्रम में उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य हरभिद्र, आचार्य हेमचन्द्र इत्यादि आचार्यों के योग सम्बन्धी मान्यताओं को विवेचित करते हुए योगसार, योगसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक, योगविंशिका, योग षोडशक एवं योगशास्त्र इत्यादि योग सम्बन्धी जैन साहित्यों पर प्रकाश डाला।

ध्यान के सम्बन्ध में डॉ० सिंह ने बताया कि जैन-ध्यान ध्यान से अधिक अनुप्रेक्षा है। वास्तविक योग साधना ही ध्यान है। आन्तरिक

तप में ध्यान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इस क्रम में उन्होंने आर्त्त-ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान इत्यादि का विशद विवेचन किया। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, यशोविजय, अकलंक, हरिभद्र आदि के ध्यान सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालते हुए ध्यानशतक, ध्यान विचार, समाधितंत्र, मोक्षपाहुड़, स्वरूप सम्बोधक, ब्रह्मसिद्धान्त समुच्चय इत्यादि ध्यान सम्बन्धी जैन साहित्यों पर प्रकाश डाला।

### 5. बौद्ध सम्प्रदाय :

यह व्याख्यान प्रो० प्रद्युम्न दूबे, विभागाध्यक्ष, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० दूबे ने बताया कि सर्वप्रथम संघ एक था। कालान्तर में स्थविरवाद एवं महासांघिक दो भेद हुए। पुनः स्थविर के 12 भेद हुए और कालान्तर में कुल 18 भेद हुए। इसी प्रकार महासांघिक के दो भेद हुए—एकव्योहारिक और गोकुलिक। इस प्रकार प्रो० दूबे ने बौद्ध सम्प्रदाय के भेदों—प्रभेदों, उनके संस्थापकों तथा सम्बन्धित साहित्यों का विशद विवेचन किया।

प्रो० दूबे ने बताया कि स्थविरवाद ही मूल निकाय है। स्थविरवाद में मूल बुद्ध वचन मिलते हैं। पिटक साहित्य जो अट्ठकथाओं के साथ संग्रहीत हैं वे स्थविरवाद से सम्बन्धित हैं। स्थविरवादी बुद्ध को मानवजनित कमजोरियों से युक्त मानव मानते हैं। इन्हें ही विभज्यवादी कहते हैं। इसी क्रम में उन्होंने स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति का उल्लेख किया जिसका संस्थापक राहुलभद्र को माना जाता है। सर्वास्तिवाद को ही वैभासिक कहा गया है।

### 6. गौतम बुद्ध पूर्व बुद्ध परम्परा :

इस विषय पर संस्थान के पूर्व निदेशक एवं राष्ट्रीय प्रोफेसर महेश्वरी प्रसाद द्वारा व्याख्यान दिया गया। उन्होंने बताया कि त्रिपिटक आदि बौद्ध साहित्यों में गौतम बुद्ध पूर्व बुद्ध परम्परा प्राप्त होती है। अश्वघोष की अट्ठकथाओं में गौतम बुद्ध पूर्व 24 बुद्धों एवं उनके जीवनी की



चर्चा है। प्रो० प्रसाद ने अशोक के अभिलेखों में भी बुद्ध पूर्व बुद्ध परम्परा के संकेत का उल्लेख किया। चीनी यात्री फाह्यान ने काश्यप बुद्ध जो गौतम बुद्ध के ठीक पूर्व हुए का उल्लेख किया है।

प्रो० प्रसाद जी ने प्रत्येक और सम्यक् दो प्रकार के बुद्धों का उल्लेख करते हुए गौतम बुद्ध को सम्यक् सम्बुद्ध बताया। उन्होंने जैन ग्रन्थ ऋषिभासित का उल्लेख करते हुए बताया कि इसमें 45 जैनेतर व्यक्तियों की चर्चा है। इनको भी बुद्ध कहा गया है। अन्तिम छः बुद्धों का नाम, जन्म स्थान और इनके वृक्ष का उल्लेख संस्कृत एवं पालि साहित्य में प्राप्त होता है। इन्हें मानुषी बुद्ध कहा गया है। अन्त में प्रो० प्रसाद ने कहा कि गौतम बुद्ध को बौद्ध धर्म का संस्थापक नहीं माना जा सकता।

## 7. जैन गुफाएँ :

यह व्याख्यान प्रो० हरिहर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, का०हि०वि०, वाराणसी का था। प्रो० सिंह ने प्राचीन भारत में बनने वाली 'संरचनात्मक एवं शैलीकृत' दो प्रकार की इमारतों की विशेषताओं एवं अन्तर का विवेचन करते हुए मानव निर्मित शैलकृत जैन गुफाओं की विशद विवेचना की। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पटना में निर्मित पत्थरों के महलों की विशेषताओं की विवेचना के क्रम में इसी काल में निर्मित नागार्जुन एवं बराबर की सर्वप्राचीन सात गुफाओं का उल्लेख करते हुए इनकी विशेषताओं, निर्माताओं एवं निर्माण के उद्देश्यों पर विधिवत प्रकाश डाला। इसी क्रम में प्रो० सिंह ने राजगृह में प्राप्त दो जैन गुफाओं के साथ-साथ उदयगिरि तथा खण्डगिरि में खारवेल के परिजनों द्वारा निर्मित जैन गुफाओं की विशेषताओं का भी विशद विवेचन किया। उन्होंने इन गुफाओं में प्राप्त अभिलेखों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला।

प्रो० सिंह ने जूनागढ़ की श्रृंखलाबद्ध गुफाओं का विवेचन करते हुए चन्द्रगुफा का विशेष रूप से चित्रण किया जहाँ आचार्य हरिषेण के शिष्यों पुष्पदन्त एवं भूतबली ने दिगम्बर जैन ग्रन्थ षट्खण्डागम की

रचना किया। इस क्रम में उन्होंने कर्नाटक के बादामी और अहिरोली की गुफाओं एवं एलोरा की गुफाओं का भी विशद विवेचन किया।

### 8. सामाजिक जीवन में अहिंसा : बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में:

यह व्याख्यान प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी, बौद्ध दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। उन्होंने बताया कि बौद्ध धर्म का उद्देश्य बहुजन हिताय बहुजन सुखाय है, जो अहिंसा की आधारशिला पर अवलम्बित है। क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति ही हिंसा का प्रमुख कारण है। यदि हम राग-द्वेष को त्यागकर बुद्ध वचनों का अनुसरण करें तभी अहिंसा की स्थापना सम्भव है। इस सम्बन्ध में उन्होंने मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा— इन चार ब्रह्म विहारों का विवेचन करते हुए आर्य अष्टांगिक-मार्ग को अनुकरणीय बताया।

### 9. इतिहास के जैन स्रोत :

यह व्याख्यान डॉ० उमेश चन्द्र सिंह, इतिहास विभाग, तिब्बती अध्ययन केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी का था। डॉ० सिंह ने अपने व्याख्यान में भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक परम्परा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए दो प्रकार के जैन ऐतिहासिक स्रोतों—साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्वरूपों पर विशद प्रकाश डाला। उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा के 45 आगम साहित्यों— 12 अंग साहित्य, 12 उपांग सूत्र, 10 प्रकीर्णक साहित्य, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र एवं 2 चूलिका सूत्रों को इतिहास के जैन स्रोत के रूप में विवेचित किया।

डॉ० सिंह ने दो प्रकार के अभिलेखीय स्रोतों — 1. राजनैतिक और गैर राजनैतिक तथा 2. उत्तर तथा दक्षिण क्षेत्र के अभिलेखों के विवेचन के क्रम में उदयगिरि, खण्डगिरि, कर्नाटक और तमिलनाडु के अभिलेखों के साथ-साथ हाथी गुम्फा सहित 84 अभिलेखों को इतिहास के जैन स्रोत के रूप में विवेचित किया। व्याख्यान के अन्त में उन्होंने कहा कि यदि जैन अभिलेख न होते तो शायद ऐतिहासिक मूल्यांकन विवादित रह जाता।

## 10. जैन कर्म सिद्धान्त :

यह व्याख्यान प्रो० कमलेश कुमार जैन, विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० जैन ने आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय का उल्लेख करते हुए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवली पंचविध ज्ञान का विशद विवेचन किया। उन्होंने बताया कि ज्ञान और दर्शन जीव का गुण है और जो इन ज्ञानों पर आवरण डाल दे उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

इसी क्रम में प्रो० जैन ने घातीय एवं अघातीय द्विविध कर्मों तथा ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग द्विविध उपयोग का भी विस्तृत विवेचन किया। कर्म विवेचन के क्रम में प्रो० जैन ने वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के विविध भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन करते हुए भव्य एवं अभव्य द्विविध जीवों का भी विवेचन किया।

## 11. श्रमण परम्परा एवं शान्ति :

प्रस्तुत व्याख्यान प्रो० सीताराम दूबे, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दिया गया। उन्होंने कहा कि परम्परा की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि पुरानी परम्परा से शक्ति संचयन कर पारम्परिक संस्कृति के माध्यम से नयी ऊर्जा का संचार करें। जो व्यापार दूसरों के लिए कष्टकारक हो वह हिंसा और जो हितकर हो वह अहिंसा है। अहिंसा और शान्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने महाभारत तथा बौद्धशास्त्रों का उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अति प्राचीन काल में समाज धर्मानुरूप, समता एवं समरसता से चल रहा था। लोग त्यागी और तपस्वी थे। हिंसा एवं लालच की प्रवृत्ति कालान्तर में बढ़ी। उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि दण्डात्मक हिंसा के माध्यम से शान्ति स्थापना की प्राचीन परम्परा है।

प्रो० दूबे ने प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी दो प्रकार की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण परम्परा को प्रवृत्तिमार्गी तथा श्रमण परम्परा को निवृत्तिमार्गी बताया। उन्होंने बताया कि प्रवृत्तिमार्गी परम्परा पूर्णतया अहिंसक नहीं है जबकि निवृत्तिमार्गी परम्परा में अहिंसा का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है। प्रो० दूबे ने कहा कि गृही जीवन से सामंजस्य स्थापित करने के क्रम में श्रमण परम्परा में भी शिथिलता आयी है। विपन्नता एवं असमानता संघर्ष एवं अशान्ति का कारण है। उन्होंने जैन दृष्टि से अहिंसा का विवेचन करते हुए संकल्पजा, विरोधजा, उद्योगजा एवं आरम्भजा हिंसा के चतुर्विध रूपों के वर्णन के साथ त्रियोग एवं त्रिकरण रूप नवकोटिक हिंसा एवं अहिंसा का विशद विवेचन किया और संकल्पजा हिंसा को सर्वाधिक निन्दनीय बताया।

## 12. बौद्ध न्याय :

यह व्याख्यान प्रो० अभिमन्यु सिंह, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दिया गया। उन्होंने कहा कि ज्ञान में ही मानव की स्वतंत्रता निहित है। सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु ज्ञान सर्वाधिक आकर्षक माध्यम है। अनुभव एवं बुद्धि ज्ञान के दो स्रोत हैं। अनुभव का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके निषेध का आधार भी अनुभव ही होता है। अनुभव के बिना कोई वैचारिक संरचना संभव नहीं है। बुद्धि को भी अनुभव की आवश्यकता होती है।

प्रो० सिंह ने दार्शनिक मतभेदों के सम्बन्ध में कहा कि ये मतभेद ज्ञानमीमांसीय नहीं अपितु तत्त्वमीमांसीय होते हैं। ज्ञानमीमांसा तत्त्व-मीमांसा से बद्ध होता है और मतभेद तत्त्वमीमांसा के स्तर पर होता है। उन्होंने बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान द्विविध प्रमाण बताया। इस संदर्भ में स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण का विवेचन करते हुए स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का तथा सामान्य लक्षण को अनुमान का विषय बताया। उन्होंने स्वलक्षण को बौद्ध दर्शन का एकमात्र प्रमाण बताते हुए अनुमान को केवल व्यवहार के लिए आवश्यक बताया। उन्होंने प्रमाण विवेचन के क्रम में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति इत्यादि दार्शनिकों के विचारों का विशद विवेचन किया।

### 13. षड्द्रव्य पंचास्तिकाय एवं तत्त्वविचार :

यह व्याख्यान डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का था। डॉ० सिंह ने बताया कि जैन दर्शन निवृत्तिमार्गी है। इसके मूल में व्यक्ति के आत्मिक उन्नयन की भावना कार्य करती है जिसकी प्राप्ति सात या नौ सोपानों में होती है जिन्हें सप्त या नौ तत्त्व की संज्ञा दी जाती है। इस आध्यात्मिक उन्नति के लिए सर्वप्रथम जगत् के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है जो कि जीव एवं अजीव दो द्रव्यों का सम्मिश्रण है। अजीव भी धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल के भेद से पंचविध हैं और रूपी एवं अरूपी में विभक्त हैं। इनका विभाजन अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय रूप में भी प्राप्त होता है।

डॉ० सिंह ने बताया कि द्रव्य व्यवस्था को समझने के पश्चात् जीव को आस्रव और उसके फल बन्धन का ज्ञान अति आवश्यक है क्योंकि इनके स्वरूप को समझने के बाद ही वह संवर एवं निर्जरा की ओर अग्रसर होगा। इस प्रकार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र द्वारा आत्मोपलब्धि करता है।

### 14. जैनागम एवं आगमिक व्याख्या साहित्य :

यह व्याख्यान कार्यशाला निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह द्वारा दिया गया। उन्होंने बताया कि आगम सामान्य रूप से तीर्थकरों के उपदेश हैं। तीर्थकरों के शिष्य गणधर उनके उपदेशों को आधार बनाकर आगमों की रचना करते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी में 24 तीर्थकर होते हैं और प्रत्येक तीर्थकर के शासन में अपने आगम होते हैं। आगम अर्थरूप में उपदिष्ट हैं और उपदेशों को गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित किया है। डॉ० सिंह ने बताया कि आगम अर्थप्रधान होते हैं जबकि वेद शब्द प्रधान हैं। आगमों की भाषा अर्धमागधी है क्योंकि महावीर ने इसी भाषा में उपदेश दिया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने समवायांग, भगवतीसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, आचारांग आदि का उल्लेख करते हुए पाटलिपुत्र, मथुरा एवं वल्लभी की वाचनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला।

व्याख्यान के क्रम में डॉ० सिंह ने आगमों के प्राचीन एवं वर्तमान वर्गीकरण का उल्लेख करते हुए अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक और चूलिका सूत्रों का विशद विवेचन किया। उन्होंने विभिन्न जैन सम्प्रदायों में मान्य आगमों की संख्या का विवेचन करते हुए आगमों की विषयवस्तु एवं उनकी टीकाओं का भी उल्लेख किया।

### 15. जैन पूजा पद्धति :

यह व्याख्यान प्रो० अशोक कुमार जैन, पूर्व विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। उन्होंने बताया कि जैन धर्म निवृत्तिमार्गी होने के साथ प्रवृत्तिमार्गी भी है, हालाँकि इस प्रवृत्ति का लक्ष्य भी निवृत्ति ही है। उन्होंने ‘वन्दे तद्गुण लब्धये’ को जैन पूजा पद्धति का उद्देश्य बताया। इस क्रम में प्रो० जैन ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमण एवं श्रावकों के लिए विहित षडावश्यक कर्मों का सविस्तार विवेचन करते हुए ध्यान एवं अध्ययन को श्रमणों का मुख्य कार्य बताया। श्रावकों के लिए विहित षडावश्यक कर्मों के उल्लेख के क्रम में देवपूजा एवं दान का विशद विवेचन करते हुए देव पूजा के छः भेद तथा बाह्य एवं अन्तरंग शुद्धि के भेद-प्रभेदों पर विस्तृत प्रकाश डाला।

### 16. जैन कोश साहित्य :

यह व्याख्यान डॉ० ओम प्रकाश सिंह, पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा दिया गया। उन्होंने कोश की परिभाषा एवं महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए शब्द कोश एवं विषय कोश रूप द्विविध कोशों का विवेचन किया। पुनः भाषा के आधार पर कोशों का वर्गीकरण करते हुए संस्कृत भाषा के कोश एवं कोशकार के अन्तर्गत धनंजय की नाममाला, आचार्य हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह एवं निघण्टुशेष सहित संस्कृत भाषा के 20 अन्य कोशों, इनके रचनाकारों, रचनाकाल तथा विषय वस्तु पर विस्तृत प्रकाश डाला। प्राकृत भाषा के कोशों के अन्तर्गत धनपाल की पाइअलच्छीनाममाला, विजयराजेन्द्रसूरि की अभिधान राजेन्द्र कोश,

आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला, शतावधानी रत्नचन्द्र का अर्धमागधी कोश एवं हरगोविन्ददास सेठ की पाइअसदमहण्णवो सहित 10 अन्य प्राकृत भाषा के कोशों का विशद् विवेचन किया।

डॉ० सिंह ने हिन्दी भाषा के कोशों के अन्तर्गत मोहनलाल बाँठिया का लेश्या कोश एवं क्रिया कोश, जिनेन्द्रवर्णी का जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, बालचन्द्र शास्त्री का जैनलक्षणावली तथा आचार्य हेमचन्द्र के जैन आगम वनस्पति कोश सहित हिन्दी भाषा के 25 अन्य कोशों के रचनाकार, रचनाकाल एवं विषयवस्तु का विवेचन करते हुए अन्य भाषा के कोशों का भी उल्लेख किया।

### 17. भारतीय चिन्तन की श्रमण परम्परा :

इस विषय पर दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रो० आनन्द मिश्र द्वारा व्याख्यान दिया गया। प्रो० मिश्र ने कहा कि भारतीय परम्परा की दो अनादि धाराएँ हैं— वैदिक एवं अवैदिक। वैदिक परम्परा ब्राह्मण परम्परा है जबकि अवैदिक परम्परा श्रमण परम्परा है। जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा के दो प्रमुख अंग हैं। वेद का मूल स्वर जीवन को सम्पूर्ण रूप से जीना है जबकि श्रमण परम्परा संन्यास एवं मोक्ष का निर्देशन करती है।

अपने व्याख्यान में प्रो० मिश्र ने कहा कि श्रमण परम्परा का प्रारम्भ महावीर एवं गौतम बुद्ध के पूर्व ही हो गया था। दीघनिकाय में बुद्ध से पूर्व छः प्रमुख श्रमण आचार्यों अजीत केशकम्बल, मक्खली गोशाल, भिक्षु पूर्ण काश्यप, प्रक्रुद्ध कात्यायन, संजय वेलटिठपुत्त एवं निगगंथनातपुत्त का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रो० मिश्र ने इन सभी आचार्यों के सिद्धान्तों एवं जीवन परिचय पर विशद् प्रकाश डाला।

### 18. जैन कथा एवं काव्य साहित्य :

यह व्याख्यान डॉ० अर्चना श्रीवास्तव, संस्कृत विभाग, महाराज बलवन्त सिंह पी०जी० कॉलेज, गंगापुर, वाराणसी का था। उन्होंने बताया कि दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं को जनमानस तक पहुँचाना कथा का

लक्ष्य है। डॉ० श्रीवास्तव ने स्थानांग, दशवैकालिक इत्यादि जैन ग्रन्थों के आधार पर लोक कथा, नीतिकथा, दन्तकथा, दृष्टान्त, अर्थ कथा, काम कथा, धर्म कथा, दिव्य कथा, परिहास कथा इत्यादि कथा भेदों का सविस्तार वर्णन करते हुए जैन कथा साहित्य के रूप में वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, धनपालकथा, आख्यानक मणिकोश, कहारयण कोस, नम्मयासुन्दरीकहा, महिवालकहा इत्यादि प्रकाशित/अप्रकाशित कथा साहित्यों के विषयवस्तु, रचनाकार एवं रचनाकाल इत्यादि का विशद विवेचन किया।

जैन काव्य साहित्य के संदर्भ में डॉ० श्रीवास्तव ने बताया कि इसका प्रारम्भ दूसरी-तीसरी शताब्दी से हुआ। पुराण, गद्य, खण्ड, नाटक, चम्पू, उपन्यास, दृष्टान्त, परिकथा इत्यादि काव्य साहित्य की विधाएँ हैं। इन्होंने बताया कि जैन काव्य साहित्य 24 तीर्थंकरों के चरित्र, राजा-रानियों, सेठ-सेठानियों, जुआरियों, धर्मी-अधर्मी को उद्देश्य करके लिखे गये हैं। इस क्रम में उन्होंने पउमचरिय, पाण्डवचरिय, चउपन्नमहापुरिसचरिय, रायमल्लभ्युदय, आदिनाथचरिय, सुमईनाहचरिय, पउमपभचरिय, सुपारसनाहचरिय, चन्दपहचरिय, सेयांसचरिय, वसुपुज्जचरिय, अनन्तनाहचरिय, सन्तिनाहचरिय, नेमिनाहचरिय, पारसनाहचरिय, महवीरचरिय इत्यादि प्रकाशित/अप्रकाशित काव्य साहित्यों के विषयवस्तु, रचनाकार एवं रचनाकाल का विशद विवेचन किया।

### 19. जैन श्रमणाचार :

यह व्याख्यान डॉ० कामिनी गोगरी, दर्शन विभाग, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई का था। उन्होंने बताया कि जैन धर्म में श्रमणों के लिए जिन नियमों का विधान किया गया है वे श्रमणाचार कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परिषह जय, धर्म, अनुप्रेक्षा एवं पंचमहाव्रतों इत्यादि के पालन का विधान है। महाव्रतों का पालन तीन योगों एवं तीन करणों से करने की बात है। इस क्रम में उन्होंने स्पष्ट किया कि क्रोध, मोह, मान, माया एवं लोभ — इन पंचकषायों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इनके स्वरूप को जानने के बाद ही निवृत्ति का प्रयास सम्भव है। डॉ० गोगरी ने मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक आधार पर इन आचारों की प्रासंगिकता एवं उपादेयता को स्पष्ट किया।



## 20. जैन ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाण विचार :

यह व्याख्यान पार्श्वनाथ विद्यापीठ के रिसर्च एसोसिएट डॉ० राहुल कुमार सिंह द्वारा दिया गया। उन्होंने बताया कि जैन दर्शन में ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, इसे जीव का लक्षण माना गया है। आगमों में पंचविध ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान की चर्चा है, जो विभिन्न ग्रन्थों में परोक्ष—अपरोक्ष के भेद से कुछ अन्तर के साथ विवेचित है। डॉ० सिंह ने बताया कि ज्ञान स्व—पर प्रकाशक माना गया है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यक्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। आगम में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आगम रूप चतुर्विध भेद का नाम—निर्देश प्राप्त होता है। मुख्य रूप से इसके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो भेद होते हैं।

उन्होंने प्रमाणमीमांसा के विकास के तीन स्तरों का उल्लेख करते हुए कहा कि प्रत्यक्ष जो कि विशद् ज्ञान है, मुख्यतः दो भागों में विभक्त है— सांख्यव्यवहारिक एवं पारमार्थिक। अवधि, मनः पर्यय एवं केवल पारमार्थिक हैं जबकि मति एवं श्रुत सांख्यव्यवहारिक हैं। परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम आते हैं।

डॉ० सिंह ने बताया कि प्रामाण्य के विषय में जैन दर्शन उत्पत्ति दशा में इसे परतः मानता है किन्तु ज्ञप्ति दशा में अभ्यास अवस्था में स्वतः एवं अनभ्यास अवस्था में परतः स्वीकार करता है।

## 21. जैन श्रावकाचार :

यह व्याख्यान डॉ० कामिनी गोगरी, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई द्वारा दिया गया। उन्होंने बताया कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए अग्रसर गृहस्थों के लिए जिन नियमों के पालन का विधान जैन धर्म में किया गया है वे श्रावकाचार कहलाते हैं। उन्होंने श्रावकाचार के अन्तर्गत पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों का विशद् विवेचन किया। उन्होंने बताया कि चूँकि गृहस्थ त्रियोगों एवं त्रिकरणों से पूर्णरूपेण जैन आचार के पालन में सक्षम नहीं होते हैं इसलिए उन्हें कुछ छूट के साथ पालन की अनुमति है किन्तु इनके पालन में उनकी दृष्टि

सम्यक् होनी चाहिए। इनके पालन से एक नैतिक व्यवस्था जन्म लेती है जो एक नैतिक एवं सहिष्णु समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। उन्होंने बताया कि मुक्ति की ओर अग्रसर श्रावक श्राविका श्रमण प्रतिमा के स्तर तक पहुँच सकते हैं।

## 22. चार आर्यसत्य एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग :

यह व्याख्यान प्रो० उर्मिला चतुर्वेदी, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० चतुर्वेदी ने दुःख से निवृत्ति को बौद्ध दर्शन का लक्ष्य बताते हुए कहा कि गौतम बुद्ध के विचार से दुःख संसार का सामान्य लक्षण है। दुःख का कारण, इसका निराकरण और इसके निराकरण का मार्ग प्रशस्त करना यही बौद्ध धर्म का प्रतिपाद्य है। इसे ही चार आर्यसत्य की संज्ञा दी गयी है। प्रो० चतुर्वेदी ने इन चार आर्यसत्यों के विवेचन के क्रम में बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दुःखनिरोध मार्ग को ही अष्टांगिक मार्ग बताते हुए सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि का विशद् विवेचन कर समाधि के चार स्तरों का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि समाधि के प्रथम स्तर में साधक चार आर्यसत्यों का मनन कर मन में उत्पन्न अनेक प्रकार के संशयों का निराकरण करता है। दूसरी अवस्था आनन्द एवं शांति की अवस्था है और तीसरी अवस्था में आनन्द एवं शांति के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है जबकि चतुर्थ अवस्था में किसी प्रकार का भी भाव चित्त में विद्यमान नहीं होता है। यह सुख-दुःख से परे चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था है। प्रो० चतुर्वेदी ने बताया कि यह अवस्था ही निर्वाण की अवस्था है जो बौद्धधर्म-दर्शन का प्रधान लक्ष्य है।

## 23. जैन धर्म-दर्शन में अहिंसा :

यह व्याख्यान कार्यशाला के संयोजक डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय द्वारा दिया गया। ‘अहिंसा परमो धर्मः’ के सर्वमान्य उद्घोष से अपने व्याख्यान का प्रारम्भ करते हुए बाह्य एवं आन्तरिक व्यापार की दृष्टि से अहिंसा को

परिभाषित करने के क्रम में उन्होंने बताया कि बाह्य व्यापार की दृष्टि से किसी भी छोटे या बड़े जीव को अपने मन, वचन या काय से किसी भी प्रकार की न्यूनाधिक पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। जबकि आन्तरिक व्यापार की दृष्टि से राग-द्वेष परिणामों से निवृत्त होकर साम्य भाव में स्थित होना अहिंसा है। डॉ० पाण्डेय ने आचारांग का उद्धरण देते हुए कहा कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, सभी को सुख अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल है। अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है।

व्याख्यान के क्रम में 10 प्रकार के प्राणों का विवचन करते हुए किसी भी प्राण का घात करना हिंसा कहा गया। 108 प्रकार की हिंसा का विवचन करते हुए पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के आधार पर यह भी बताने का प्रयास किया कि हिंसा की प्रक्रिया में हिंस्य की हिंसा तो होती ही है सर्वप्रथम हिंसक की आध्यात्मिक हिंसा होती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में वर्णित अहिंसा के 60 नामों के आधार पर यह भी बताने का प्रयास किया कि अहिंसा केवल निषेधात्मक प्रत्यय ही नहीं है, अपितु विध्यात्मक भी है।

डॉ० पाण्डेय ने अपने व्याख्यान में अहिंसा के विधेयात्मक पक्ष के रूप में दया और दान को परिभाषित करते हुए क्षमा के चार प्रकारों द्रव्यदया, भावदया, स्वदया एवं परदया का विशद विवचन कर दस प्रकार के दान—अनुकम्पा दान, संग्रह दान, भय दान, करुणा दान, लज्जा दान, गौरव दान, अधर्म दान, धर्म दान, करिष्यति दान तथा कृत दान को भी सोदाहरण विवेचित करने का प्रयास किया।

## 24. शील, समाधि एवं प्रज्ञा :

यह व्याख्यान प्रो० रमेश प्रसाद, पालि एवं थेरवाद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० प्रसाद ने विषय भोग को दुःख का कारण बताते हुए चार आर्य सत्यों का सविस्तार विवचन किया। इसके उपरान्त आर्य अष्टांगिक मार्ग के विवेचन में अन्तिम

सम्यक् समाधि का सविस्तार उल्लेख कर इसकी चार अवस्थाओं का भी विशद विवेचन किया। प्रो० प्रसाद ने बताया कि समाधि की प्रथम अवस्था में साधक बुद्ध के चार आर्य सत्यों का मनन एवं चिन्तन करता है और इससे उत्पन्न संशयों का स्वयं निराकरण भी करता है। दूसरी अवस्था में आनन्द एवं शांति का अनुभव करता है। तीसरी अवस्था में इनके प्रति उदासीन हो जाता है जबकि अन्तिम एवं चौथी अवस्था में सभी भाव नष्ट हो जाते हैं। यही निर्वाण की अवस्था है।

प्रो० प्रसाद ने बताया कि अष्टांगिक मार्ग में प्रथम दो सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञा के अन्तर्गत आते हैं। सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका एवं सम्यक् व्यायाम शील के अन्तर्गत आते हैं और शेष दो सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—समाधि के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

## 25. जैन कला एवं प्रतिमा विज्ञान :

यह व्याख्यान प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास—कला विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। कला को परिभाषित करते हुए प्रो० तिवारी ने कहा कि कला साहित्य की वैयक्तिक रचना है। किसी भी काल की कला वर्तमान में भी अपरिवर्तित रूप में ही प्राप्त होती है। कला पूरी संस्कृति की विस्तृत मौन अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से जैन कला के आधार पर पूरी जैन संस्कृति, दर्शन एवं धर्म को समझा जा सकता है।

प्रो० तिवारी ने बताया कि जैन तीर्थंकर ध्यानमुद्रा एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में ही पाये जाते हैं। ध्यानमुद्रा चिन्तन के शीर्ष बिन्दु को व्यक्त करती है और कायोत्सर्ग मुद्रा जैन कला का विलक्षण वैशिष्ट्य है। उपसर्ग में भी जैन तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा का परित्याग नहीं करते। उन्होंने बताया कि जैन तीर्थंकरों के साथ वृक्षों का उल्लेख उनके पर्यावरण के प्रति प्रेम का द्योतक है। इस क्रम में उन्होंने खजुराहो मन्दिर, दिलवाड़ा का मन्दिर, चन्द्रप्रभ की कुषाणकालीन मूर्ति, देवगढ़ के ऋषभनाथ इत्यादि मूर्तियों के काल, स्थान एवं उनकी विशेषताओं के संदर्भ में

70 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

विशद विवेचन किया। प्रो० तिवारी ने समण बेलगोल की बाहुबली की मूर्ति को ध्यान-साधना की गहनता का प्रतीक बताते हुए कहा कि मूर्तियाँ हमें यह सन्देश प्रदान करती हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के आधार पर हम यशवान् एवं पूज्य हो सकते हैं।

## 26. जैन दार्शनिक साहित्य :

यह व्याख्यान कार्यशाला निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह द्वारा दिया गया। डॉ० सिंह ने सम्पूर्ण जैन दार्शनिक साहित्य को दो भागों में विभाजित करते हुए ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी जैन साहित्य के अन्तर्गत प्रमाण, ज्ञान, नय, निक्षेप, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय तथा तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी जैन साहित्य के अन्तर्गत जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को प्रमुख प्रतिपाद्य विषय बताया। प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप द्विविध प्रमाण के भेद-प्रभेदों का विशद विवेचन करते हुए ज्ञान के साधन के रूप में नय का सविस्तार विवेचन किया।

व्याख्यान के क्रम में डॉ० सिंह ने काल क्रम के अनुसार ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान तक के दार्शनिक साहित्य के युग को पाँच प्रमुख भागों में विभाजित करते हुए साहित्य सर्वेक्षण की पद्धति पर विस्तृत प्रकाश डाला। उन्होंने जैन दार्शनिक साहित्य के रूप में आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र, जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नन्दी सूत्र, समयसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, न्यायावतार, सन्मतितर्क, द्वात्रिंशत्त्वात्रिंशिका, आत्मानुशासन, युक्त्यानुशासन, विशेषावश्यकभाष्य, सर्वार्थसिद्धि, परमात्मप्रकाश, लघीयस्त्र, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय इत्यादि के विषयवस्तु एवं रचनाकार तथा रचनाकाल के विषय में भी संकेत किया।

## 27. बौद्ध कला का परिचय :

यह व्याख्यान डॉ० ज्योति रोहिल्ला राणा, इतिहास-कला विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। डॉ० ज्योति ने अपने

व्याख्यान में मौर्यकाल के बौद्ध स्तम्भों का विशद विवेचन करते हुए बौद्ध मूर्तिकला की दृष्टि से गन्धार एवं मथुरा की मूर्तिकला की विशेषताओं का वर्णन कर बौद्ध कला, जैन कला एवं ब्राह्मण कला का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया।

व्याख्यान के क्रम में बौद्ध कला के क्षेत्र में अजन्ता एवं एलोरा की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए बौद्ध धर्म के विकास में इनके योगदान के साथ इनके संरक्षण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया।

### 28. अनेकान्तवाद :

यह व्याख्यान प्रो० अशोक कुमार जैन, पूर्व विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० जैन ने कहा कि अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है जो वस्तु को अनन्त धर्मात्मक मानती है। वस्तु को केवल नित्य या केवल अनित्य कहना अनुचित है। वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व आकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण एवं स्थिति रूप ध्रौव्यता बनी रहती है। प्रो० जैन ने बताया कि वस्तु को द्रव्य-पर्यायात्मक माना गया है। द्रव्य नित्यता को सूचित करता है जबकि पर्याय उसके बदलते हुए धर्मों को। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार सोना द्रव्य से किसी समय कुण्डल का निर्माण तो किसी समय चन्द्राहार का निर्माण।

उन्होंने बताया कि अनेकान्तिक दृष्टि विरोधों का समन्वय है। इस दृष्टि से हम समाज में व्याप्त विभिन्न धर्मों की परस्पर असहिष्णुता को समाप्त कर सकते हैं।

### 29. अपोहवाद :

यह व्याख्यान डॉ० जयन्त उपाध्याय, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। डॉ० जयन्त ने बताया कि ‘अपोह’ शब्द बौद्ध दर्शन का पारिभाषिक शब्द है जो अन्य दर्शनों में जाति या सामान्य के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद को मानता है जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का अस्तित्व

एक ही क्षण होता है। तब प्रश्न उठता है कि ज्ञान की प्रतीति का कारण क्या है? इसी के उत्तर के लिए बौद्ध दार्शनिक 'अपोहवाद' का उल्लेख करते हैं। डॉ० उपाध्याय ने अपोह का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' या तद् भिन्न-भिन्नत्व बताया। जैसे— 'यह पुस्तक है'— इस ज्ञान में 'तद्' पद से पुस्तक लिया गया है और 'अतद्' पद से अपुस्तक या पुस्तक से भिन्न।

उन्होंने व्यावृत्ति का अर्थ अतिरिक्त या अलग बताया। बौद्ध दर्शन के अनुसार जिस समय 'यह पुस्तक है' ऐसा ज्ञान होता है वह ज्ञान अपुस्तक व्यावृत्तिरूपी पुस्तकत्व धर्म के कारण होता है। यही पुस्तकत्व धर्म सभी पुस्तकों के विषय में एकाकार प्रतीति का कारण है। डॉ० उपाध्याय ने बताया कि बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु के विषय में ज्ञान का कारण उस वस्तु का विशिष्ट धर्म है न कि जाति। यह विशिष्ट धर्म ही बौद्ध दर्शन में 'अपोह' नाम से जाना जाता है।

### 30. जैन अभिलेख :

यह व्याख्यान राष्ट्रीय प्रोफेसर एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद द्वारा दिया गया। प्रो० प्रसाद ने बताया कि जैन अभिलेख जैन धर्म एवं संस्कृति की ऐतिहासिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्रम में अशोक के स्तम्भ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नागार्जुन एवं बराबर की गुफाओं से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि ये गुफाएँ आजीवकों को दान में प्राप्त थीं जिनका जैनों से पृथक् अस्तित्व मात्र 200-300 वर्ष तक रहा। बाद में इनका जैन सम्प्रदाय में विलय हो गया।

प्रो० प्रसाद ने खारवेल के अभिलेखों का विवेचन करते हुए बताया कि यह जैन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें 84 कलाओं से युक्त संगीतमय उत्सव का उल्लेख होने के साथ-साथ नन्द राजा द्वारा ले जायी गयी रत्नजड़ित एवं कीमती मूर्ति को खारवेल द्वारा वापस लाये जाने का भी उल्लेख है। उन्होंने बताया कि माथुरी अभिलेखों से पता चलता है कि प्रारम्भ में अभिलेखों का

निर्माण पुण्य के लिए प्रेरक आचार्यों के नाम, कुल, गोत्र एवं शाखा के उल्लेख के साथ होता था। इस क्रम में प्रो० प्रसाद ने दक्षिण के अभिलेखों, गुप्तकाल के अभिलेखों, राजस्थान के अभिलेखों एवं मध्यकाल के अभिलेखों पर प्रकाश डालते हुए उनके ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित किया।

### 31. भारत के संरचनात्मक जैन मन्दिर : आबू के विशेष सन्दर्भ में :

यह व्याख्यान प्रो० हरिहर सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। प्रो० सिंह ने जैन मन्दिरों की सामान्य विशेषताओं को व्याख्यायित करते हुए संरचनात्मक जैन मन्दिरों की विशिष्टताओं को प्रकाशित करने के क्रम में विश्वविख्यात आबू पर्वत के जैन मन्दिरों की स्थापत्य एवं कला का विशद विवेचन किया। इस क्रम में गुजरात के प्रथम सोलंकी शासक भीमदेव प्रथम के मंत्री विमलशाह द्वारा निर्मित मन्दिर तथा सोलंकी नरेश भीमदेव द्वितीय के मंत्री तेजपाल द्वारा निर्मित मन्दिरों का उल्लेख करते हुए इन मन्दिरों को जैन मन्दिरों में प्राचीनतम एवं जैन धर्म की पूजन पद्धति के अनुकूल बताया। प्रो० हरिहर सिंह ने दिलवाड़ा के मन्दिरों की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए बताया कि इसका बाहरी पक्ष बिल्कुल सादा परन्तु आन्तरिक भाग अलंकरण युक्त है।

### 32. महायान सम्प्रदाय में मूर्ति कला :

यह व्याख्यान भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व निदेशक प्रो० डी०पी० शर्मा का था। प्रो० शर्मा ने बताया कि बुद्ध की मूर्ति बनाकर पूजन करने की परम्परा महायान शाखा द्वारा शुरू किया गया। उस समय गंधार कला केन्द्र महायान शाखा के विचारों को मूर्त रूप से व्यक्त कर रहा था। गंधार में तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वातधारी, कपिशा, बमियान आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो० शर्मा ने बताया कि स्थानीय भौगोलिक प्रभाव एवं लम्बे समय तक ग्रीक—रोम के



आधिपत्य का प्रभाव इस कला परम्परा पर दृष्टिगत होता है। गन्धार कला में मुख्यतः बौद्ध धर्म सम्बन्धी कथानकों के दृश्यांकन एवं बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ ही आंकी गयी थीं। जैन तथा ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मूर्तियों का इस कला में पर्याप्त अभाव है।

### 33. पूर्व मध्यकाल में बौद्ध धर्म : पूर्वी भारत के विशेष संदर्भ में :

यह व्याख्यान डॉ० अनुराधा सिंह, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का था। डॉ० सिंह ने अपने व्याख्यान में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पक्षों का पुरातत्त्व और साहित्य के आधार पर विवचेन करने का प्रयास किया। राजनीतिक रूप से हर्षवर्धन के बाद पाल शासकों ने बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया। उन्होंने बताया कि प्रारम्भिक मध्य काल में भारत के पूर्वी क्षेत्रों में बोधगया, नालन्दा, उदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ये केवल धार्मिक गतिविधियों के केन्द्र ही नहीं अपितु शैक्षणिक केन्द्र भी थे। पालि के स्थान पर संस्कृत बौद्ध भिक्षुओं की भाषा थी और सहस्त्रप्रज्ञापारमिता उनका प्रमुख धर्मग्रन्थ था। इसी काल में बौद्ध धर्म का तंत्र की ओर झुकाव भी हुआ। बौद्ध तंत्रवाद में बौद्ध देवियों की पूजा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह काल बौद्ध कला की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। नालन्दा, कुर्मिहार, पहाड़पुर आदि स्थानों से प्रस्तर और धातु की बनी बौद्ध मूर्तियाँ बहुतायत में प्राप्त हुई हैं।

डॉ० सिंह ने बताया कि इसी समय बौद्ध धर्म पूर्वी भाग से सटे देशों जैसे तिब्बत, नेपाल, चीन, वर्मा और दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में फैला जिसका व्यापक प्रभाव आज तक बना हुआ है।

### 34. नय एवं निक्षेप :

यह व्याख्यान डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का था। डॉ० सिंह ने बताया कि ज्ञाता या वक्ता के अभिप्रायः को नय कहा जाता है। यह प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु का आंशिक ज्ञान है। जो कि वक्ता के कथन की विवक्षा पर आधारित

है। प्रमाण एवं नय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने सामान्य विशेषात्मक वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट किया। उन्होंने नय के विविध भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए सात नयों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया।

डॉ० सिंह ने निक्षेप के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया कि यह जैन भाषा दर्शन का अनूठा सिद्धान्त है जो कि नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव रूप से चतुर्विध है।

### 35. जैन चित्रकला :

यह व्याख्यान ज्ञान प्रवाह, वाराणसी की निदेशिका प्रो० कमल गिरि जी का था। प्रो० गिरि ने जैन चित्रकला की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए एलोरा गुफाओं की चित्रकला को सर्वप्राचीन जैन चित्रकला बताया जिसे 900-1000ई० के बीच रखा जा सकता है। इससे पूर्व जैन ग्रन्थों में चित्रों के सम्बन्ध में जानकारी तो मिलती है परन्तु चित्रण प्राप्त नहीं होता। उन्होंने बताया कि चित्रों का अंकन ग्यारहवीं सदी से प्राप्त होने लगता है। इन चित्रों की विशेषताओं का विवेचन करते हुए प्रो० गिरि ने बताया कि इनमें कम से कम रंगों का प्रयोग है। इन चित्रों पर प्राप्त अभिलेखों से इनके समय का ज्ञान सरलता से हो जाता है। कुछ ऐसे भी चित्र प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पहले अभिलेख अंकित कराया जाता था उसके बाद चित्रण किया जाता था। इन चित्रों में जैन तीर्थकरों एवं उनसे जुड़ी घटनाओं को मुख्य केन्द्र बिन्दु बनाया गया था। इन चित्रों की पृष्ठभूमि लाल रंग से निर्मित की जाती थी परन्तु बाद में गहरे नीले रंग के प्रयोग की बहुलता दिखने लगी। परवर्ती काल में इन चित्रों का निर्माण कागजों पर भी दृष्टिगत होता है।

### 36. प्रतीत्य समुत्पाद :

यह व्याख्यान प्रो० अभिमन्यु सिंह, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दिया गया। प्रो० सिंह ने बताया कि प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का केन्द्रीयभूत कारणता सिद्धान्त है। प्रतीत्य

का अर्थ है अपेक्षा रखकर तथा उत्पाद का अर्थ है उत्पत्ति। उन्होंने बताया कि बौद्ध दर्शन में कारण से कार्य में परिवर्तन को पूर्ण परिवर्तन माना जाता है। यहाँ कारण एवं कार्य परस्पर भिन्न हैं। बौद्धों के अनुसार कारण एवं कार्य में भेद पारमार्थिक है।

प्रो० सिंह ने बताया कि प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यम प्रतिपदा है। यह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के बीच का मार्ग है। शाश्वतवाद के अनुसार वस्तुएँ नित्य हैं जबकि उच्छेदवाद के अनुसार वस्तु के नष्ट होने के बाद कुछ भी अपशिष्ट नहीं बचता अर्थात् वस्तुएँ पूर्णतः अनित्य हैं। बौद्धों के अनुसार दोनों मत एकान्तिक तथा अतिवादी दृष्टिकोण के परिचायक हैं। दोनों असत्य एवं अग्राह्य हैं। सत्यता इन दोनों 'अतियों' के मध्य में है। यही माध्यमा स्थिति प्रतीत्यसमुत्पाद है। इस क्रम में प्रो० सिंह ने प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का भी विशद् विवेचन किया।

### **37. श्रमण परम्परा और धार्मिक सहिष्णुता :**

यह व्याख्यान कार्यशाला निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह का था। उन्होंने धर्म एवं धार्मिक सहिष्णुता को परिभाषित करते हुए वर्तमान परिवेश में श्रमण परम्परा की प्रासंगिकता को विशद् रूप में विवेचित किया। डॉ० सिंह ने सहिष्णुता के शास्त्रीय एवं अभिलेखीय उल्लेखों का निर्देश करते हुए जैन एवं बौद्ध परम्परा के सहिष्णुता विषयक तत्त्वमीमांसीय आधारों का विशद् विवेचन किया। उन्होंने अपने व्याख्यान में सहिष्णुता के दृष्टान्तों पर विस्तृत प्रकाश डाला।

उपर्युक्त व्याख्यानों के बाद 12 जनवरी 2015 को कार्यशाला के प्रतिभागियों द्वारा विभिन्न विषयों पर शोध-पत्र प्रस्तुत किया गया जिसके आधार पर डॉ० जयन्त कुमार को प्रथम, श्री आशीष कुमार जैन को द्वितीय तथा डॉ० लोकनाथ को तृतीय पुरस्कार दिया गया।

कार्यशाला का समापन 13 जनवरी 2015 को हुआ। समापन सत्र के मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध कलाविद् एवं प्रतिमा विज्ञानी तथा कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने कहा कि शास्त्र ज्ञान

को आचरण में बदलना होगा तभी हमें शान्ति प्राप्त होगी। श्रमण परम्परा का साहित्य दया, दान, समता, करुणा, सहिष्णुता, अहिंसा, तप, त्याग की शिक्षा देता है, पर उसकी सार्थकता तभी है जब हम उसे अपने आचरण में उतारें। उन्होंने कहा कि विश्वबन्धुत्व का उद्घोष हमारी भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वैदिक परम्परा का यह उद्घोष ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ ‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्’ तो बौद्ध अभिलेखों में उत्कीर्ण ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ और जैन परम्परा के ‘सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय’ की आत्मा एक ही है। ‘परस्परपग्रहो जीवानाम्’ का यही सन्देश है कि एक दूसरे का उपकार करना जीवों का धर्म है। इन सिद्धान्तों का आचरण में रूपान्तरण ही अहिंसा की वृत्ति को जन्म देता है। जब वृत्ति सबके प्रति हितकर एवं प्रीतिकर बन जाती है तब हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं होता और परिणामस्वरूप शान्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रो० तिवारी ने कहा कि हम शान्ति की शुरुआत अपने परिवार से करते हुए इसका विस्तार कर समाज, राष्ट्र और विश्व को शान्ति प्रदान कर सकते हैं। आवश्यकता है तो बस एक दृढ़ संकल्प एवं सार्थक प्रयत्न की।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए राष्ट्रीय प्रोफेसर एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के पूर्व निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने कार्यशाला में आये विभिन्न विषयों के प्रतिभागियों की ओर संकेत करते हुए कहा कि ऐसी कार्यशालाएँ ज्ञान के क्षितिज को व्यापक बनाने का कार्य करती हैं। आज आवश्यकता है चिकित्सा एवं तकनीकी के छात्रों का मानविकी विषयों में निहित भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को जानने की तथा मानविकी के छात्रों को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से परिचित होने की। प्रो० प्रसाद ने कार्यशाला के विषय क्षेत्र को समाज में प्रासंगिक बताते हुए कहा कि मानव शान्ति चाहता है और शान्ति के लिए अहिंसा का वातावरण आवश्यक है। अहिंसा श्रमण परम्परा का प्राण है।

विशिष्ट अतिथि पद से बोलते हुए प्रसिद्ध उद्योगपति श्री धनपतराज भंसाली ने कहा कि अहिंसा और शान्ति का वातावरण केवल मौखिक प्रयास ने नहीं बल्कि अपने आचरण में बदलाव से बनेगा।

78 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

कार्यशाला के निदेशक डॉ० अशोक कुमार सिंह ने कहा कि यद्यपि सूचना प्रौद्योगिकी और विज्ञान के साधनों ने अध्ययन सामग्री की उपलब्धता को सहज बनाया है तब भी ज्ञान प्राप्ति के मूलभूत उपादानों की प्रासंगिकता उतनी ही है। इस अवसर पर कार्यशाला संयोजक डॉ० श्रीनेत्र पाण्डेय ने कार्यशाला के व्याख्यानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया।

कार्यशाला में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, ग्राम्यांचल महिला विद्यापीठ, वाराणसी, गंगानाथ झा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, इलाहाबाद एवं बलिया से कुल 40 प्रतिभागी सम्मिलित हुए।

\*\*\*\*\*

# **Self-restraint: A Must for World Peace**

**Samani Aagam Prajna**

Individual and society or society and individual are interrelated. The status, conditions, power, and economy of an individual influences or is directly affected by status, conditions, power, and economy of a society. Economy is the most important factor which is connected with an individual, family, society and nation. Economics is defined as the study, how human beings allocate scarce resources to produce various commodities and how those commodities are distributed for consumption among the people in the society. Kenyes, the famous economist conceives that economy to be the best which satisfies everyone's desires. For this he has prepared a model of economic development on the basis of macro-economics. According to Ācārya Mahāprajña, this one-sided view of economic development has raised many problems. My attempt in this paper would be to discuss the problems occurring due to one-sided view of economic development and how through self-restraint these problems can be minimized if not totally mitigated. The value of self-restraint is not only spiritually beneficial but it's a panacea to build the peaceful, moral and harmonious society and nation.

## **Concept and problems of One-sided Economic Development**

The main objective of economics is human welfare through economic progress. For that, modern economics advocates the principles of increasing wants. In support of increasing wants the following arguments are advanced<sup>1</sup>:

1. With increase in wants, man gets maximum happiness and satisfaction.
2. Increase in wants is helpful in the development of culture and improvement in the standard of living.
3. Increase in wants leads to creation of more wealth.

4. With increase in wants economic position of the state becomes stronger, as a result of which states become militarily powerful and self-reliant in its own defense.

In order to satisfy these demands of increasing wants Keynes propounded the theory of macro-economics. Consequently, many large-scale industries were established which led to the maximization of output. On the basis of this theory, economic transformation became sharp. So, on the one hand, the establishment of large-scale industries resulted into continual development but at the same time dark side of the scenario is that it has created a great danger for environment. With the large scale cutting of forests and excessive excavation of the earth, entire balance got disturbed. The species, vitally important for the survival into the third millennium are being destroyed. Drinking water is being contaminated by pesticides and chemical wastes, dangerous gases like carbon-dioxide, etc. released by chemical industries continue to widen holes in ozone layer contributing to rapidly increasing global warming. So, today, man is living in a dangerous environment. Secondly, many social problems like corruption, economic disparity, unemployment, poverty, etc. increas. Thirdly, this development has resulted into immoral activities like unhealthy competition, greediness, adulteration, jealousy, violence, etc.

In view of all these problems the question arises what is the purpose of all these economic development? Is it only to fulfil our desires, earn profit and be happy without concern for the future generation?

In this world each person is related with four **P's** .

- a) Person to Person
- b) Person to People
- c) Person to Planet
- d) Person to Profit

From the present scenario, it is evident that man is after personal profits. He has overlooked his duties and responsibilities towards person, people and planet. Hence, it resulted into all sorts of problems mentioned above. If each person would consider the rights or shares of fellow beings, the gulf between rich and poor would not happen. Today, one crore rich people have more than ten lakh dollars (450 lakhs) while half of the population (3.50 billion) earn two dollars a day. Though our land can fulfill the needs of 11.5 billion people yet 900 million people are living without enough food. The reason is improper distribution. Why unequal distribution of income and wealth, why imbalance in the nature, etc.? The root cause of all these conditions is possessiveness.

### **Possession vs Possessiveness**

The two words- possession and possessiveness - are to be understood. Possession is the physical property in the form of cash, assets, animal beings, etc that which is tangible. On the other hand, possessiveness is the attachment towards or craving for the possession. As long as possession is considered it is not a great problem. Man needs possession for fulfilling the basic needs such as food, water and some other requirements. But possessiveness is a kind of emotional attitude in the form of greediness, attachment towards what is being possessed and may be for what is being unpossessed. Lord Mahavira defines it as *mucchā pariggaho vutto*.<sup>2</sup> Due to this craving man's desires are soaring once a single desire is satisfied many other desires rise. That's why it is said in Jaina canons that *icchā u āgāsa samā aṇantiā*,<sup>3</sup> that is, wants are endless like the sky.

### **Possessiveness and Immorality**

According to Lord Mahavira possessiveness is the root cause of immorality, violence and other evil activities. It can be proved by the following references.

1. Instincts are the basic nature by which the living beings are motivated. In Jain scriptures we come across ten types of instincts



i.e. *āhāra*, *bhaya*, *maithuna*, *parigraha*, etc.<sup>4</sup> Among these, one is *parigraha*. There is no mention of *himsā* in these instincts. So, what I want to emphasize is that *parigraha* is the basic instinct which motivates man to commit certain violent activities.

2. Lord Mahāvīra says possessive man indulges in violence, get it done by others and also give consent to it. In this way he goes on binding karmas and falls into the cycle of miseries.<sup>5</sup>

That's why, Ācārya Mahāprajña has a new perspective regarding *dharma*. He says instead of saying “*ahimsā paramo dharmah*” we should say “*aparigrahaḥ paramo dharmah*”. The most significant point which I want to focus is that it is not that always by fulfilling the desires man indulges in immoral activities. But even the unfulfillment of desires also leads to immoral actions. The following points will make it clear. There are four options -

- a) Possessiveness? more desires? fulfilled? immorality ? impurity.
- b) Possessiveness? more desires ? unfulfilled ?impurity in the form of jealousy, greed, etc. ? immoral actions.
- c) Self-restraint? control over desires? fulfilled ? more moral? more pure.
- d) Self-restraint? less desires? unfulfilled ? pure ? moral.

Generally, it is seen that those persons who have possessive nature indulges in violent actions in order to fulfill their desires. And if their desires are not fulfilled they do immoral activities due to jealousy, greed, etc. On the other hand, persons who are self-restraint have less desire and to fulfill those desires they will not involve themselves in violent activities. And if desires are not fulfilled he will not have any kind of ill or evil feelings. Thus the fulfillment and unfulfillment supported by self-restraint leads to morality and purity. This shows that possessiveness does not only create social problems but also leads to spiritual degradation while self-restraint brings morality in the society and even spiritual upgradation. Hence,

the fulfillment and the unfulfillment of desires supported by possessiveness leads to immorality and impurity. Here I propose that the value of non-possession or self-restraint laid down by Lord Mahāvīra will be effective and efficient to resolve such above mentioned problems. Restrain over accumulation and restrain over desires - these are the two important factors which can help out to overcome these imbalances and in building a morally healthy and harmonious society and nation. Here I would like to mention few arguments which convince man to have control over desires. Before going into how we can have control over desires we will focus on why one should control desires.

### **Arguments for Control our Desires**

1. In Economics there are two important words - need and desire. Ācārya Tulasī discussed three kinds of life-style based on these two factors by three equations.

A) Desires > needs = *vikṛti*

B) Desires = needs = *prakṛti*

C) Desires < needs = *saṁskṛti*.

That is to say, when desires are more than needs it will result into *vikṛti* (problematic) state. When desires are equal to needs it will result into *prakṛti* (naturalistic) state. While when desires are less than needs it will result into *saṁskṛti* (good) state. The fact is that man is the part of nature and not the master of nature. To live natural life he has to equalize his desires with needs if he couldn't minimize it.

2. Philosophically also we can prove that one cannot fulfill all the desires. Desires are infinite and materially one cannot fulfill infinite desires. Infinity is not the nature of materiality. It's the nature of spirituality. One can feel infinite happiness, infinite peace, etc. but cannot fulfill infinite desires. We all know that the things which do not possess the nature cannot be extracted from it. For example fire cannot quench the thirst and water cannot light the lamp. Similarly

infinite desires can be fulfilled in the spiritual world and not in material world. Gandhi has rightly said “Earth can fulfill one’s need but not one’s greed.”

3. There are two aspects of life-

A. Life of Peace and Well-being.

B. Life of Wealth and Prosperity.

According to HPI (Happy Planet Index,2009), which measures the well-being of the countries reports that the countries which are highly developed such as United Kingdom, United States, etc. are at 74<sup>th</sup> and 114<sup>th</sup> rank, respectively from 143 states. While the countries which are not so highly developed or are developing have better level of well-being. They are countries like Costa Rica (1), Dominican Republic (2), India (35), etc. Hence, even by less economic development too man can live a happy and satisfied life. Therefore, money is not the only source of all the standards. After discussing all the points emphasising non-possession, we will discuss how one can attain the goal of self-restraint/non-possession.

Lord Mahāvīra propounded two kinds of vows - great vows and small vows. Great vows are for monks and nuns and small vows are for householders. The small vows are called *aṇuvrata*. Among twelve *aṇuvratas*<sup>6</sup> one is *icchā-parimāṇa*, that is, control over desires. To strengthen this vow - Lord Mahāvīra has given some complementary vows. They are- *Upabhoga-paribhoga-parimāṇa vrata* and *Atithisainvibhāga*. The former *vrata* talks about control over personal consumption. Over consumption is the cause of immoral action. When one wants to consume more, he tries to possess more, he forgets about all values and virtues. It would not be wrong to say, mostly for more consumption and more accumulation man uses impure or immoral means as explained before. Even if wealth comes to him without using immoral means he should control over consumption. Morality says that man should share his wealth with those who are devoid of it. It will be a service to humanity. For the

upliftment of this act of sharing Lord Mahāvīra gave the vow of *Atithisaṁvibhāga*. It asks for sharing food to ascetic by laity but in this context it can be interpreted in the form of sharing things to the people devoid of it. Through this vow, the problem of poverty, unequal distribution of income and wealth can be mitigated.

The modern economy is encouraging to increase desires, production, consumption and distribution. On the other hand spirituality and morality inspire to control all this. Now the question is how to fill the gap between these two thoughts. Here, I would like to introduce a new model of economy envisioned by Ācārya Mahāprajña. While studying and editing the Jaina canons and texts Ācārya Mahāprajña found some of the maxims of economics given by Lord Mahāvīra.<sup>7</sup> Analyzing all the current problems he prepared a new economic model called “Relative Economics”. I would like to discuss some of the essential features of Relative economics.

1. The first consideration for a relative economics is coordination between human labour and machines. It is not only necessary that there is to be a increase in the utilization of human labour but the valuation of those labours should also be proper. They should not be exploited.
2. The second feature of relative economics is recognising the priorities and preferences of the society. Investment should essentially be increased in production of goods and services which form a part of the consumption of the common man.
3. The third feature of relative economics is the coordination between the present and future needs. Ensuring adequate availability of resources which could meet the requirements of both today and tomorrow should be an essential ingredient of the economic system. Preservation of ecology is necessary for this assurance.
4. The fourth feature of relative economics is the encouragement of decentralization of wealth and production.

Infact, the modern economy is money oriented while Relative economics is man and moral oriented. If this model is applied many of the problems can be overcome.

Thus, these are the ways which can help to develop morality through self-restraint. In this world where we are talking about world peace and moral society, it is necessary to awaken the inner consciousness of self-restraint. This consciousness will definitely build a society that is, happy and peaceful.

### References :

- 1 *Mahāvīra Kā Arthaśāstra*, Acarya Mahaprajna, Eng. tr. by S.R.Mohnot as *Economics of Lord Mahavira*, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., In association with Adarsh Sahitya Sangha, New Delhi, 2004, p.103.
- 2 *Daśavaikālika sūtra*, 6.20.
- 3 *Uttarādhyayana sūtra*, 9.48.
- 4 *Ṭhāṇāṛi*, 10.105.
- 5 *Sūtrakṛtāṅga*, 1.3.
- 6 *Upāsakadaśā sūtra*, 1.11.
- 7 *Mahāvīra Kā Arthaśāstra*, Acarya Mahaprajna, Eng. tr. by S.R.Mohnot as *Economics of Lord Mahavira*, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., In association with Adarsh Sahitya Sangha, New Delhi, 2004.

\*\*\*\*\*

# **Virchand Raghavaji Gandhi : Assessment of a Jaina Scholar and Spokesman of India Abroad**

**Dr. Satish K Kapoor**

Virchand Raghavji Gandhi (1864-1901) had many firsts to his credit. He was the first celebrated Jaina to have graduated with honours from Elphinstone College, Bombay (Mumbai) in 1880, the first authorized Jaina plenipotentiary to a global religious conclave in 1893, the first to win admirers and adherents to his faith outside India, and the first non-Hindu to defend Hinduism in America and Europe. He was much ahead of his times and explained the fundamental articles of the Jaina faith in the living language of science and logic. His interpretation of *Anekāntavāda* - the philosophy which says that each assertion though seemingly contradictory, belongs to the domain of possibility - brought the quintessential element of Jaina metaphysics to the global fora. He could juxtapose, assimilate, and harmonise different religious standpoints on the praxis of deeper spirituality. His explanation of the gospel of *Ahimsā* - non-violence - in scientific idiom, appealed alike to the intellect, the heart and the soul, and in that respect, he was a precursor to Mahatma Gandhi (1869-1948).

He was among the first few 19<sup>th</sup> century Indians to delineate the exploitative aspects of the British Raj marked by racial discrimination, destruction of Indian agriculture and handicraft industries, impoverishment of the subaltern classes, misuse and drainage of India's wealth to Britain, and the abolition of import duties to help the traders of Liverpool and Manchester. He spoke against the imposition of 200% tax on the manufacture of salt 'to maintain a costly government', a somber presage of the Salt *Satyāgraha* of Mahatma Gandhi in 1930. He had the courage to point out that the British Raj had legitimized the vice of drinking and raised revenue from the liquor trade, which the native rulers never did. He resented that the government spent lavishly to assert its political hegemony by declaring Queen Victoria as the Empress

of India in 1877, but it did little to save more than five million people from starvation and epidemics during the famine of 1896-97. He described Englishmen as conquerors who laid claim to 'extra-territorial right throughout India.' Yet his patriotism was not insular as he stood for amity and cooperation among different nations at cultural and economic levels. Despite his reservations about the ethical dimensions of the British export, he praised the British manufacturers for understanding the Indian economic milieu and the requirements of people. He was the first Jaina to speak on trade relations between India and America and to guide the latter on what to export at an international meet organized by W.P. Wilson, Director of Philadelphia Commercial Museum.<sup>1</sup>

Born on August 25, 1864 in an affluent Jaina family of Mahuva, a small town on the Arabian sea coast, and educated at Bhavnagar (Gujarat) and in Bombay (Mumbai), Virchand Raghavji (V R) Gandhi became the youngest Honorary Secretary of Shri Jaina Association of India at the age of twenty one, due to his keen interest and involvement in the administration of charitable and religious trusts. A towering intellectual, visionary, orator, writer, and social reformer, he was a polyglot who knew fourteen languages and was conversant both with rational western thought and traditional Indian wisdom. He knew as much about Jainism in which he had been trained in a Jaina monastery by Shrimad Vijayanandsurishwar (Muni Atmarama ji) whom he represented at the Chicago Parliament, as with the fundamentals of Hinduism, Buddhism, Christianity and Islam. He was well versed in history, philosophy, psychology, science and mysticism, and quoted profusely from scholarly works. He could address large audiences with rare confidence and speak sometime for hours elaborating on a subject. Just as Swami Vivekananda founded the Vedanta Society of New York and Anagarika Dharmapala, the Maha Bodhi Society of America, Virchand Raghavji Gandhi founded three institutions in America - Gandhi Philosophical Society, School of Oriental Philosophy, and Society for the Education of Women of India.

V R Gandhi synergized in him, the erudition of Protap Chunder Mozoomdar ( 1840-1905), the sobriety of Hewavitarne Dharmapala (1864-1933), the philosophic outlook of G.N. Chakravarti, the sensitivity of Balwant Bhau Nagarkar (1858-1926) and the patriotic zeal and prophetic vision of Swami Vivekananda (1863-1902) - all of whom represented their respective faiths at the World's first Parliament of Religions held at Chicago in 1893.

### **At Parliament of Religions**

Virchand Raghavaji Gandhi created a great impression on the Chicago Parliament by his refined manners, vast learning, and command of the English language. Although, in physical appearance, he was not as handsome as Swami Vivekananda, his tranquil and austere figure in an immaculate *Kurtā* - upper garment - white *shawl* -over the shoulders and traditional turban with golden border, his friendly disposition and gentle smile attracted one and all. His opening and closing addresses (September 11 and 27) presentation on Jainism (September 25) as well as his off-the-cuff observations during discussions, were greatly appreciated.<sup>2</sup> He delineated the intricate philosophical points through metaphors, narratives, fables and quotes. In interactive and representational argument he was no less eloquent in the Parliament than Swami Vivekananda, Hewavitarne Dharmapala, Balwant Bhau Nagarkar or Narsimhachari, but he never used raw rhetoric to overawe his opponent. While presenting counterview or censuring the illiberal, he did not cross the limits of decency, and thereby won the respect of all. The American Press lauded his simplicity, scholarship, non-sectarian outlook and breadth of vision. The Boston Evening Transcript dated September 30, 1893, wrote : 'He has a refined and intellectual countenance, a bright eye and something in his manner that suggests cosmopolitan influences.'

When evangelist George T. Pentecost of London concluded his address on September 24, 1893 by saying that 'there were two or three oriental bubbles which have been floating over Chicago for



the last two or three weeks<sup>3</sup> alluding to Swami Vivekananda, H. Dharmapala, Narsimhachari and other delegates from India, it was Virchand Raghavji Gandhi who gave a befitting reply. 'The oriental bubbles might yet be found heavier than certain bloated balloons of self conceit which were temporarily obscuring a large portion of the horizon.'<sup>4</sup> The Chicago Daily Tribune dated September 26, 1893 reported that the audience was sympathetic, and 'applauded loudly almost every point he scored.'

### **Exponent of Jainism**

Jainism is an outlook of life, a mode of understanding the world, a way to the efflorescence of the soul, as well as a living faith. In its classical mould, the word 'Jaina' is more of an adjective than a noun, as it derives from the word *Jina* which means he who has conquered himself. The history of Jainism goes back to the beginning of time. Its historical evolution, like that of other faiths, has been the result of interaction between a number of factors, forces, ideas and puissant souls, sometime between parallel or even rival schools of thought. Jainism is neither the heir or the rebel child of Hinduism as Christianity is of Judaism, nor a reactionary religious movement. The Supreme Truths in the Jaina faith were revealed to the twenty-four *Tirthankaras* - 'ford-finders' - those who help one to cross the ocean of worldly existence' - at different stages of man's evolution. Deriving from the *Śramaṇa* tradition which is many millennia old, Jainism focuses on the purification, elevation and flowering of the human being - an idea which is close to the *Muṇḍaka Upaniṣad* (I.1.5), which says that true knowledge comes not through pedagogy but through experience.

While Hermann Jacobi (1850-1937) introduced Jainism to the West through his translation of a few Jaina classical texts both into German and English, V R Gandhi may be called the first able exponent of Jainism in America and Europe, who spread its aroma through his insightful talks, discourses and writings. He presented Jainism as an ethico-metaphysical system which lays down that moral power is

superior to physical power; renunciation is not escapism but the way to infinite purity and infinite bliss; self-sacrifice is better than self aggrandizement. He believed that Jainism is fit to be a world religion because it stands for spirituality and culture not dogma. Jaina ethics aim at the cultivation of the mind, the heart and the soul along with the lines of truth, non-violence and righteousness, so as to turn hatred into love, love into compassion and compassion into social service. The three jewels of Jainism, *Tri-ratna*, namely, Right faith(*samyak śraddhā*), Right knowledge(*samyag jñāna*) and Right conduct( *samyak ācāraṇa*), underline the need for the establishment of the moral law in society. Jainism rejects the atheistic and materialistic perceptions of the Cārvāka school of Indian philosophy since it believes that the goal of human life is not to attain pleasure but to be perfect in every respect.

At the Chicago Parliament ( September 11) he described Jainism as a faith 'older than Buddhism, similar to it in ethics but different from it in psychology.'<sup>5</sup> His paper on Jaina philosophy and ethics (September 25) delineated the cosmology, canon, science, logic, epistemology and moral codes of Jainism in a masterly way.<sup>6</sup> He put forth two parallel but distinct views in the Jaina tradition namely, *dravyārthika naya* which holds that the universe is without beginning and end, and *paryāyārthika naya* which holds that creation and destruction take place every moment. He divided the Jaina canon into two parts - *Śruti dharma*, revealed laws, and *cāritra dharma*, moral laws, which elevate character. He referred to the nature of nine principles, six substances, six kinds of living beings and four states of existence in the Jaina philosophy, explaining some of them in detail. He described the soul as the divine element in all beings - the element which knows, thinks and feels, but is different from matter which is also eternal. As long as the soul is subject to transmigration, it undergoes the process of evolution and involution. *Mokṣa*, the state of final liberation, is achieved when the soul regains its purest form by relieving itself of the burden of *karma* and severing all connection with matter. The realized ones look

upon all living beings as upon themselves. He explained the Jaina belief in eight types of *karma* - law of cause and effect - and in the theory of reincarnation, widely supported by philosophers, theologians, and prophets the world over, as it provides the *raison d'être* of injustice and misery in the world. He asserted that the Jaina prophets could reveal the minutest divisions of living beings with their inner eye and envision 'how many organs of sense minutest animalcule has', much before the discovery of microscope. He informed the audience that there were works on biology, zoology, botany, anatomy and physiology in the Jaina tradition, written centuries before the birth of modern sciences.<sup>7</sup>

He rejected the common view upheld about the Jainas as atheists or agnostics. Although the existence of a First cause or that of a creator-deity is absent in the Jaina cosmological scheme, the Tirthankaras recognize the subtle essence underlying all substances, 'conscious as well as unconscious, which becomes an eternal cause of all modifications and is termed God.' While the Brahmins recommend devotion (*bhakti*) and action (*karma*), and the Vedantists emphasise the path of knowledge (*jñāna*) to reach the Ultimate Reality, Jainism teaches that 'knowledge and religious observances' are the means to obtain the highest happiness. In conclusion, he spoke of the *pañcamahāvratā* or five great vows of ascetics, namely, 'not to kill; not to lie; not to take that which is not given; to abstain from sexual intercourse; to renounce all interest in worldly things or to call nothing one's own.'<sup>8</sup> These vows which bear verisimilitude to the five *yamas*-restraints- in the *Yoga Sūtras* of Patañjali, are regarded by the Jainas as means to attain the Supreme spiritual state of a *Siddha Parameṣṭhin*.

In his final address( September 27), V R Gandhi thanked the organizers of the Parliament for their hospitality, kindness, 'liberal spirit and patience' with which they heard the views of delegates from the Orient. However, in view of occasional notes of disharmony, Christian claims to superiority over other religions, and some direct

attacks on Hinduism and Buddhism, he observed: ' If you will only permit a heathen to deliver his message of peace and love, I shall only ask you to look at the multifarious ideas presented to you in a liberal spirit and not with superstition and bigotry, as the seven blind men did in the elephant story.'<sup>9</sup>

As per the said story the blind men had touched the different parts of an elephant's body and quarreled among themselves about its shape, size and features. He thus tried to establish that truth has various dimensions; religions are divided by ignorance and bigotry, and the good in all faiths need to be recognized.

### **Jaina Contribution**

After the Chicago Parliament , V R Gandhi went on lecture tour in different parts of America and England on invitation, visiting India in between. In his various discourses and writings, he explained how Jainism has enriched various disciplines like philosophy, religion, literature and arts.

The Jaina contribution to the domain of metaphysics includes its concept of the self existent and timeless Reality; its *bheda-abheda* doctrine which recognizes both different (*bheda*) and identical (*abheda*) perspectives, its nine categories namely, *jīva* (living being or soul), *ajīva* (non-living being), *puṇya* (good deeds), *pāpa* (evil deeds), *āśrava* (influx of karma), *bandha* (bondage of karma), *saṁvara* (stoppage of inflow of karma), *nirjarā* (eradication of karmic matter) and *mokṣa* (salvation); its six-fold division of *dravyas* (substances) namely *jīva* (soul), *pudgala* (matter), *dharma* (principle of motion), *adharmā* (principle of rest), *ākāśa* (space) ( together called *pañcāstikāya*) and *kāla* (time); its four-fold division of souls - *deva* (gods), *jīvas* (living beings), *tiryaks* (lower animals) and the vegetable kingdom and *narakas* (lower region) - all subject to the law of karma, and so on.

The atomic theory of Jainism which propounds that an atom (*paramāṇu*) is indivisible and indestructible and has colour, flavor

and taste; that the aggregate of atoms (*skandha*) in various modes and combinations changes the quality and taxonomy of objects, comes closer to the scientific view.

The Jaina theory of five kinds of knowledge namely, *mati* (ordinary cognition), *śruta* (testimony), *avadhi* (inner perception), *manaḥparyaya* (capability to read the mind of others) and *kevala* or *pratyakṣa jñāna* (perfect or direct knowledge), adds a new dimension to Epistemology.

The seven modes of predication (*saptabhaṅgī*), called also seven *nayas* (standpoints) - *syād asti* (is) , *syād nāsti* (is not), *syād asti-nāsti* (is and is not), *syād avaktavya* (inexpressible), *syād asti avaktavya* (is and is inexpressible), *syād nasti avaktavya* (is not and is inexpressible), *syād asti-nāsti avaktavya* (is, is not and is inexpressible), have contributed to the study of Logic.

The Jaina view of nonviolence as the highest ideal of life is a great contribution to Ethics. Its concept of *mokṣa* as a state of freedom which renders infinite joy, infinite freedom, and infinite bliss adds to the theology of salvation. The rejection of dogma in Jainism and the acceptance of different points of view are the salient features of Jaina ethos.

Jaina art as seen through its iconography, sculptures, paintings, stupas - hemispherical structures - decorated manuscripts, mystic diagrams, and temples is aesthetic, meaningful, majestic and magnificent. Jainas have produced vast literature on philosophy, logic, history, comparative religion, grammar, prosody, mathematics, lexicography, astronomy, art and other subjects in Sanskrit, Tamil, Telugu, Kannada and Prakrit.

### **Critique of Christianity and Missionary Activities**

Although many Christians attended the Chicago Parliament in a spirit of love and fellowship showing utmost courtesy and goodwill to delegates from the East, some of them spoke in derogatory terms about oriental religions. Christianity was presented as the only true

and universal religion, 'the only complete and god-given revelation'.<sup>10</sup> The Code of Righteousness revealed by God to Moses, called the Ten Commandments, was described as superior to the ethical precepts of Orientals.<sup>11</sup> It was argued that the idea of the unity of God and the brotherhood of man as suggested in Paul's great speech on Mars Hill was not found in 'the Hindu Buddhistic Bible'.<sup>12</sup> Rev. Joseph Cook of Boston stated ( September 14 ) that he regarded all faiths except Christianity as 'a torso'. Except Christianity 'there is no religion known under heaven, or among men, that effectively provides for the soul this joyful deliverance from the love of sin and the guilt of it', he said.<sup>13</sup> As regards the antiquity of Christianity Pentecost pointed out that it does not date from the birth of Christ. 'Christ crucified 2000 years ago was only the culmination in time, and to our sense, of a revelation already ages old.'<sup>14</sup> Besides, no ideal character 'ever satisfied the demands of the mortal consciousness of the ancient world' as did Jesus Christ.<sup>15</sup>

Like many oriental delegates to the Chicago Parliament, like Kinza Riuge M. Hirai (Japan), Swami Vivekananda, Hewavitarné Dharmapala, and others, V R Gandhi was convinced that the Christian attitude towards other religions based on the interpretation of Saint Justin Martyr (c. 100-165 CE), Saint Clement of Alexandria (c. 150-215 CE), Tertullian (c. 160-220 CE), Tatian (c. 120-180 CE) and others, was that of hostility, condemnation and intolerance. Justin Martyr, for example, interpreted non-Christian religions as the work of demons and evil spirits, and dubbed them all as 'crude superstitions, demonic counterfeits and caricatures of the true religion.'<sup>16</sup>

Both in America and Europe, V R Gandhi pointed out the Christian bias against other faiths, based as it was on raw, tainted information from dubious quarters. He disapproved of proselytism rooted in such theological assumptions as, all-non-Christians were going to hell; there was no way to salvation except through Jesus Christ who is the central and culminating point of God's salvific plan for mankind; and that Christianity is the fulfillment of all religions.

He rejected the view that some people are the chosen of god (Deutronomy 7:6) while others are pagan; that if Jesus Christ is true, all other prophets must be false. Without denying the purity of character of Jesus Christ and the nobility of his ethical teachings he observed that he had been preceded by many spiritual masters like him.<sup>17</sup>

‘I have to say that no Christian minister can point to a single moral truth or ethical statement in his new testament of Jesus the Christ that I cannot duplicate a thousand times with even greater emphasis from the sacred books and teachings of our religion antedating as they do the Christian era by thousands upon thousands of years.’<sup>18</sup>

In one of his historic lectures, ‘Have Christian Missions to India been successful?’ delivered at the Nineteenth Century Club in America, V R Gandhi presented a critique of Christianity and missionary methods.<sup>19</sup> He argued that Christianity does not have fixed doctrines as it has grown through the ages - from the times of Christ to that of the Fathers of the Church to that of the Middle ages, to the Age of Reformation down to the present times. Christianity has not come ‘direct through Christ’ but through ‘the layers of superstition and bigotry, of intolerance and persecution, of damnation and eternal hell-fire.’ It has thus lost ‘the standard of apostolic days.’<sup>20</sup> The fact that Christianity has borrowed its cosmogony, festivals, liturgies and sacred paraphernalia, from previous or older religious traditions, shows that it does not have a ‘divine origin’.<sup>21</sup> Its doctrines of Original Sin and of vicarious atonement are not convincing.<sup>22</sup> The gullible are made to believe theological half-truths and miracles, like the immaculate conception of Mary and the resurrection of Jesus after crucifixion. The Church has been offering inducements to convert the poor with foreign money. It has used education and social work as means of proselytisation, something ‘repulsive to our conscience.’<sup>23</sup> Instead of improving moral standards, or raising the position of women and the masses, Christianity has introduced social evils with its western lifestyle and values, which overemphasize the gratification

of the senses, its ideas of marriage and of social relations.<sup>24</sup> He noted that Christians being non-vegetarians and wine-takers seem to the Hindus to represent a religion bereft of humanitarian or spiritual ideals.<sup>25</sup>

He wondered how the 'dogmatic aggressiveness'<sup>26</sup> of Christian preachers elevate the spiritual state of a nation. He argued that the missionaries were so trained as to detest other religions. They preached an insular creed, and spread 'a false theology', 'not only false but positively injurious to the best interests of mankind.'<sup>27</sup> They were ignorant about Indian history, culture and philosophy, and saw nothing positive in non-Christian traditions.<sup>28</sup> They were systematically spreading false information about other faiths to erode their credibility.

Like Swami Vivekananda, he goaded the Christian missionaries to put their theology into action - to live a virtuous life like that of Jesus Christ, and not indulge in calumny, hypocrisy, drinking and other vices. He felt that dogmatic Christianity cannot take root in India.

### **Defender of Hinduism and Indian Culture**

V R Gandhi saw historical and cultural affinity between Hinduism and Jainism since both have emerged from the same soil. At the Chicago Parliament he had the honour to read Manilal N Dwivedi's detailed essay on Hinduism, in his absence. He defended the Hindu tradition against missionary attacks as can be seen from his response to George T. Pentecost's vitriolic observations (September 24).<sup>29</sup>

Pentecost had spoken derisively about the Hindu deities by observing that to compare 'the peerless Christ' 'to any of the gods worshipped by the Hindus 'is to mock both them and him.'<sup>30</sup> He had lampooned the traditional Hindu History by saying that orientals were destitute of the historical sense and could easily manage millions of years as decades.<sup>31</sup> He had dubbed the claim about the eternity of the Vedas and the antiquity of Puranic heroes antedating 'all other faiths' as



irrational.<sup>32</sup> Above all, he had cast aspersions on the chastity of women who served in the temples of India.<sup>33</sup>

V R Gandhi explained why Christian missionaries painted a negative image of India: 'They go to India to convert the heathen in a mass but when they find their dreams melting away, as dreams always do, they return back to pass a whole life in abusing the Hindu.'<sup>34</sup> He argued that the 'present abuses' in Hinduism, were not from religion, but in spite of it, as in every other country, Hindu society had been so virtuous in the past that a Greek historian remarked : ' No Hindu was ever known to tell an untruth, no Hindu women ever known to be unchaste.' He gave the example of emperor Akbar (1542-1605) who showed utmost respect to the Bible when a ship of Christian traders was captured with the copies of their holy book, unlike the Portugese Christians who had defiled the *Koran* in a similar situation.<sup>35</sup> In another lecture, V R Gandhi referred to ancient and medieval travelers and scholars like Hieun Tsang ( 602-664 CE ) ; Marco Polo ( 1254-1324 CE) and Mohammad al-Idrisi (1099-1161), who showered rich encomiums on the Hindus for their high character, truthfulness and honesty.<sup>36</sup> As regards the superstitious nature of Hindus, he had this to say in a lampooning way :

'These holy men talk of the Hindu superstitions. They had better examined their own religion. A religion whose beginning is in blood, whose salvation is in blood, whose purity is in innocent blood, whose hope of saintship is in a dream of a sea of blood, whose revivals are brought about by preaching and a vision of the sea of blood afresh, would do better by talking less of the superstitions of other nations.'<sup>37</sup>

It appears that the caustic observations of Rev. T. E. Slater of the London Missionary Society, Bangalore, made in his Paper, read at the Chicago Parliament by Frank M Bristol, were lurking in the mind of V R Gandhi when he uttered these words. The Paper stated *inter alia* that 'no literature, not even the Jewish, contains so many words relating to sacrifice as Sanskrit. The land has been saturated with blood.'<sup>38</sup>

The concept of India as a unique, hoary civilization and vibrant culture, with multi-ethnic, multi-racial, multi-religious, and multilingual traits, finds articulation in the discourses and writings of V R Gandhi. To him India was not just a geographical entity but the land of gods and holy men. He regarded the quintessential Indian values as timeless and eternal. He saw the different schools of Indian philosophy as flowers of various hues, all emitting fragrance. He regretted that while India was 'the mother of religions and 'the cradle of civilization' it was dubbed as the land of heathens, 'both materially and spiritually' in Christendom due to ignorance.<sup>39</sup> On the testimony of Greek writers like Strabo, Pliny, Arrian and Megasthenese he argued that India had become a familiar topic with the western people long before the birth of Jesus. He quoted from the writings of scholars like Max Mueller (1823-1900), Sir Thomas Munro (1761-1827), H.H. Wilson( 1786-1860) and others to show that India had a glorious past.

Hinduism to him was not a religion in the western sense of the term but a way to achieve all-round perfection. He spoke of Hinduism's antiquity and its superiority to European knowledge in many spheres of activity. He rejected the view that Hindus have no history 'worth considering' prior to the Muslim invasion of India. The fact is that historical events were transmitted 'with particularity and exactness from generation to generation, from century to century.'<sup>40</sup> Like Swami Vivekananda, he provided the *raison d'etre* of caste, image worship, rites of marriage, and of religious symbols like AUM, *swastika*, forehead-marks, *chakras* (wheels or lotuses) in the subtle body, etc. He described Sanskrit - *deva-vāṇī* - 'language of the gods', 'the oldest language in the sisterhood of languages',<sup>41</sup> as essential for an understanding of Indian history, religion and culture, a fact vouchsafed by western philologists. Yet he was not a revivalist in the narrow sense of the term. He disagreed with Abbe Dubois's description of Hinduism as a pagan religion and argued that modern science has come to accept the value of some ancient rites and

ceremonies. Contrary to the western belief that Hindu women were 'abject slaves' of their husbands, and enjoyed a lower status in society, he observed that the wife in India is regarded as the queen of the household and never kept in seclusion or subjection, denied education or excluded from holding a high position in society.<sup>42</sup> He quoted Sir Thomas Munro (1761-1827) who said that 'the Hindus are not inferior to the nations of Europe, and if civilization is to become an object of trade between England and India, I am convinced that England will gain by the import cargo.'<sup>43</sup>

### **Conclusion**

V R Gandhi had a short but eventful life marked by prominent social, religious and legal activities, for which he was honoured by Jains as well as non-Jains, both in India and abroad. The triumph of his mission in the West raised the image of India and restored the confidence of the Jaina community in its ethos. He brought about an inner resurgence in Jainism by upholding its precepts against all odds, thereby saving its soul from the growing impact of the West. He was successful in stimulating interest in Jainism both as faith and as a way of life, which is evident from the fact that Herbert Warren and Mrs Howard adopted the culture of the Jaina community. While the former took notes of his lectures and expatiated on the Jaina faith, the latter served as Secretary of the Society for the Education of Women of India, founded by him. He showed that Jainism can provide answers to the ultimate existential questions, and help one to take a quantum jump from ignorance to supreme knowledge, from conflict to peace. His understanding of Buddhism, Indian mysticism which he regarded as synonymous with the Yoga School, the six systems of Indian philosophy, and comparative religion, was superb, and for this reason, he was invited to a number of religious, spiritual and philosophical societies in important American cities like Chicago, New York, Boston and Washington DC. He also made a mark in England by his insightful talks and his success in winning an appeal. His lectures on concentration, meditation, hypnotism, dietetics, the art and science

of breathing , and the occult, generated much interest, and continue to be meaningful. <sup>44</sup> He taught how one can strengthen will, nullify negative propensities, expand consciousness, and awaken inner powers. His views on spirituality are well suited to this age of scientific enquiry and rationalistic criticism.

As a crusader for the Jaina causes he succeeded in obtaining tax exemption for pilgrims( 1886 ) to the sacred Mount Śatruñjaya (Gujarat), through a compromise with the ruler of Palitana, by using the good offices of Lord Reay, Governor of Bombay (Mumbai). He filed a case for the closure of tallow factory of Mr Boddam on Sammed-Shikhar (Shikharji ), the venerable peak of Jainas in Jharkhand, and won it after great effort. He was a great patriot, and his concern for the masses grew out of his sense of identity with humanity. While in the USA he could raise forty thousand rupees for the famine stricken people of India and arrange to send a steamer full of grains (1896). He remained a pure vegetarian throughout his life, sometime surviving on raw or boiled vegetables in the cold climate of America and Europe,<sup>45</sup> thus becoming a living legend for the supporters of vegetarianism, in his time. Like Swami Vivekananda, he wanted a synthesis of tradition and modernity, of science and spirituality, so that mankind could have peace as well as prosperity. He left his mortal coil on August 7,1901, in Mumbai.

## References :

- 1 See *The Jaina Philosophy. Speeches and Writings of Virchand R. Gandhi.* Edited by Kumarpal Desai. Mumbai: World Jaina Confederation,2009, pp. 105-7, 271-76.(Hereafter cited as *The Jaina Philosophy*).
- 2 Walter R. Houghton(ed.) , *Neely's History of the Parliament of religions and Religious Congresses at the World's Columbia Exposition.* Chicago and New York: F. Tennyson Neely, 1894, pp.61-62,853-54,732-36. (Hereafter cited as Houghton).
- 3 *The Chicago Daily Tribune*, September 26, 1893.
- 4 *Ibid.*
- 5 Houghton, pp.61-62.
- 6 *Ibid.*, pp, 732-36.
- 7 *Ibid.*
- 8 *Ibid.*

- 9 Houghton, pp.853-54.  
10 *Ibid.*, p.683.  
11 *Ibid.*, pp.686-87.  
12 *Ibid.*, p.689  
13 *Ibid.*, pp.,220-21.  
14 *Ibid.*, pp.,p.684.  
15 *Ibid.*, p. 686.  
16 M.V.Cyriac, *Meeting of Religions. A Reappraisal of the Christian Vision* (with a foreword by Prof. P. Fransen), Dialogue Series, Madras-Madurai, 1982, pp.138-39.  
17 *The Jaina Philosophy*, p.111.  
18 *Ibid.*, pp.,111-12.  
19 *Ibid.*, pp.88-113.  
20 *Ibid.*, pp.90-91,101.  
21 *Ibid.*, p.92.  
22 *Ibid.*, pp.101,110.  
23 *Ibid.*, p.109.  
24 *Ibid.*, p.101.  
25 *Ibid.*, p.105.  
26 *Ibid.*, p.110.  
27 *Ibid.*, p.90.  
28 *Ibid.*, p.95.  
29 Houghton, pp.,682-90.  
30 *Ibid.*, p.685.  
31 *Ibid.*, p.683.  
32 *Ibid.*, pp.683-84.  
33 *Ibid.*, pp.,701-2.  
34 *Ibid.*  
35 *Ibid.*  
36 *The Jaina Philosophy*, pp.94-95.  
37 *Ibid.*, p.108.  
38 Houghton, p.166.  
39 *The Jaina Philosophy*, pp.88-89. See also, *The Unknown Life of Jesus Christ*. From an ancient manuscript recently discovered in a Buddhist monastery in Thibet by Nicholos Notovitch. Translated from the French and edited with an introduction and illustrations by V. R. Gandhi. Revised by Prof G. L. Christe of the University of Paris. Edited by Kumarpal Desai. Mumbai: World Jain Confederation, 2009. p. 50.  
40 *Ibid.*, pp.254-55.  
41 *Ibid.*, p.255.  
42 *Ibid.*, pp.261-63.  
43 *Ibid.*, p.96.

See for these lectures, Virchand Gandhi, *The Yoga Philosophy*, Edited by Kumarpal Desai. Mumbai: World Jaina Confederation, 2009.

In a communication to Diwanji (November 1894), Swami Vivekananda wrote thus: ' Now here is Virchand Gandhi, the Jaina whom you well know in Bombay. This man never takes anything but pure vegetables even in this terribly cold climate and, tooth and nail, tries to defend his countrymen and religion. The people of this country like him very well, but what are they doing who sent him over? They are trying to outcast him.' *The Complete Works of Swami Vivekananda*, Vol. VIII, Calcutta: Advaita Ashrama, 1964, pp.328-329.

\*\*\*\*\*

## पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

### **1. Fourth National Workshop on Prakrit Language & Literature (31<sup>st</sup> Oct.-14<sup>th</sup> Nov. 2014) Organized Successfully**

Parshwanath Vidyapeeth (PV), an eminent institute of Indology in general and Jainology in particular, is well known to the academic world both within and outside India. It is recognized by Banaras Hindu University for Ph. D. degree and also by Scientific & Industrial Research Organization, Deptt. of Science and Technology, Government of India for conducting research. With its objective to promote knowledge of Prakrit Language and Literature Vidyapeeth organized a fifteen days National Workshop on Prakrit Language and Literature from 31<sup>st</sup> October -14<sup>th</sup> November 2014. It was the fourth workshop organized on the subject. There were 50 participants from the different universities, i.e. Banaras Hindu University, Varanasi, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi, Gramyanchal Vidyapeeth, Varanasi, Nandlal Bajoria Sanskrit Mahavidyalaya, Varanasi and Purvanchal University, Jaunpur, JNU, New Delhi, VKS University, Arrah, Hindu PG College Zamania, G.J. PG College, Ballia.

About 40 lectures and 14 special lectures were delivered by the experts in this workshop. In fact the pattern of this school was to teach the Prakrit grammar through operational procedure employed in Sanskrit grammar. Sutras of Prakrit grammar used in the words were explained. The method adopted for teaching Prakrit language was drilling system. The formation of each word was analyzed and rules of grammar applied in a particular word, was also explained. Mostly classes were covered by Dr. Deenanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad, and Dr. Ashok Kumar Singh, PV, Varanasi.

To provide a sound background of Prakrit Language and Literature, besides the regular three lectures as scheduled per day on grammar

one special lecture every day by eminent scholars of the respective subjects were delivered. These special lectures are as follows:

‘*Sanskrit Nātakam meṃ Prakrit*’ by Prof. K. D. Tripathi, Emeritus Professor, BHU, Varanasi,

‘*Abhilekhīya Prakrit*’; ‘*Bhāratīya Vidyā evam Saṃskṛti ke Adhyayana va Śodha meṃ Prakrit Bhāṣā kā Mahattva*’ by Prof. Maheshwari Prasad, National Professor, New Delhi,

‘*Pitaka Sāhitya*’ by Prof. Bimalendra Kumar, Ex- Head, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, BHU, Varanasi,

‘*Prakrit Kathā Sāhitya*’ by Prof. Ashok Kumar Jain, Ex-Head, Deptt. of Jain and Bauddh Darshan, BHU, Varanasi,

‘*Śaurasenī Sāhitya*’ by Prof. Kamalesh Kumar Jain, Head, Deptt. of Jain and Bauddh Darshan, BHU, Varanasi,

‘*Prakrit Adhyayan kī Avaśyakatā evam Sambhavanāyem*’ by Prof. Hareeshwar Dikshit, Ex- Head, Deptt of Veda, BHU, Varanasi,

‘*Lipi*’ by Prof Suman Jain, Deptt of AIHC & Arch, BHU, Varanasi,

‘*Prakrit ke Upabhedā: Miśra Sanskrit ke Viśeṣa Sandarbha meṃ*’ by Prof. Satyadeva Kaushik, Ex-head Deptt. of Pali & Prakrit, Aligarh Muslim University, Aligarh,

‘*Prakrit ke Vividha Rūpa*’ by Dr. Deenanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad,

‘*Āgamika Vyākhyā Sāhitya*’; ‘*Prakrit Vyākaraṇa Sāhitya*’; ‘*Vaidika Sanskrit meṃ Prakrit Tattva*’; ‘*Bhojapurī meṃ Prakrit Tattva*’ by Dr. Ashok Kumar Singh, PV, Varanasi

‘*Avyaya-vicāra*’ by Dr. Rahul Kumar Singh, PV, Varanasi.

In this workshop an examination was held followed by a viva-voce. On the basis of the final result three participants were awarded certificate of merit with prize.



The Inaugural function was held on 31<sup>st</sup> Oct. 2014. In this session Prof. K. D. Tripathi, Hony. Advisor IGNCA, Varanasi, Emeritus Professor BHU, Varanasi was the Chief- Guest of the session and Shri D R Bhansali, industrialist and philanthropist, Varanasi presided over this session. The Valedictory function was held on 14<sup>th</sup> Nov. 2014. In this session Prof. D R Patnayak, Deptt. of English, BHU, Varanasi, Ex-Dean School of languages, Ravenshaw University, Cuttack, presided over the session, Prof. Baliraj Pandey, Head deptt of Hindi, BHU, Varanasi, was the Chief Guest of this session and Dr. Deenanath Sharma, Gujarat University, Ahmedabad, was the guest of honour for this session. The Workshop was guided under the Directorship of Dr. Ashok Kumar Singh, Associate Professor, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi and Dr. Rahul Kumar Singh was the co-ordinator of the workshop.

## **2. National Workshop on *Śramaṇa Tradition, Non-violence and Peace* (30<sup>th</sup> December 2014-13<sup>th</sup> January 2015) Organized Successfully**

Parshwanath Vidyapeeth, recognized by Banaras Hindu University for Ph. D. degree and also by Scientific & Industrial Research Organization, Deptt. of Science and Technology, Government of India for conducting research. PV is devoted to promote the study of Indian culture in general and Jainology in particular. Therefore, it aims to give the knowledge of various aspects of Śramaṇic tradition, such as its scriptures, philosophy, ethics, history, language, literature, art, architecture etc.

For this purpose we had organized a 15 days National Workshop on *Śramaṇa Tradition, Non-violence and Peace* from 30<sup>th</sup> December 2014 to 13<sup>th</sup> January 2015.

There were 40 participants from the different universities, i.e. Banaras Hindu University, Varanasi; Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi; Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi; Purvanchal University, Jaunpur; Gramyanchal Vidyapeeth, Varanasi; Ganganath

Jha Rashtriya Sanskrit Sansthan, Allahabad and G.J. PG College, Ballia.

The Inaugural function was held on 30<sup>th</sup> December 2014, Prof. Yadunath Prasad Dubey, Pro- Vice-chancellor, Sampurnanand Sanskrit University, was the Chief- Guest and Prof. Ashok Kumar Chatterjee, Life Time Achievement Awardee of Indian Council of Philosophical Research, New Delhi and Former Head, Deptt. of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, Varanasi presided over this session.

39 lectures were delivered by the experts in this workshop. Proceedings of these lectures is also being published in this issue.

At the end of the workshop a presentation of research papers by participants was held. On the basis of the final result three participants were awarded Certificate of Merit with prize.

The Valedictory function was held on the 13<sup>th</sup> January 2015. Prof. Maheshwari Prasad, National Professor and Former Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, presided over the session. Prof. Marutinandan Prasad Tiwari, Former Head, Deptt. of History of Art, BHU, Varanasi, was the Chief Guest of this session and Sh Dhanapat Raj Bhansali, a prominent industrialist and philanthropist, Varanasi, was the Guest of Honour. The Workshop was conducted under the Directorship of Dr. Ashok Kumar Singh, Associate Professor, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi. Dr. Shrinetra Pandey was the Coordinator of the workshop.

### **3. बदलते सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में पुस्तकालय एवं मीडिया की भूमिका विषयक संगोष्ठी संपन्न।**

पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी द्वारा "बदलते सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में पुस्तकालय एवं मीडिया की भूमिका" विषय पर एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन दिनांक 13 दिसम्बर 2014 को किया गया।

इस संगोष्ठी में दो सत्रों में प्रतिभागियों ने अपने शोधपत्र एवं विचार प्रस्तुत किये। इसमें देश के लगभग सत्रह विश्वविद्यालयों के अठहत्तर विद्वानों ने सहभागिता की एवं बीस शोधपत्रों का वाचन हुआ।

संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता ख्यातिलब्ध शिक्षाविद् एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय कार्यकारिणी परिषद् के पूर्व सदस्य प्रो. एस. बी. सिंह ने की, मुख्य अतिथि थे आई. एम. एस. बी. एच. यू. के निदेशक प्रो. राणा गोपाल सिंह तथा विशिष्ट अतिथि थे राममनोहर लोहिया वि.वि. फैजाबाद के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. आर. के. सिंह। समापन सत्र की अध्यक्षता नेशनल प्रोफेसर प्रो. महेश्वरी प्रसाद ने की, इस सत्र के मुख्य अतिथि थे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलसचिव डॉ.के. पी. उपाध्याय तथा विशिष्ट अतिथि थे अकादमिक स्टाफ कॉलेज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निदेशक प्रो. आनन्द वर्धन शर्मा।

इस संगोष्ठी के संयोजक थे डॉ. अशोक कुमार सिंह, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, निदेशक थे डॉ. संजीव सराफ उपग्रंथालयी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा सचिव थे डॉ. ओमप्रकाश सिंह, पुस्तकालयाध्यक्ष पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

#### 4. शोधपत्र—प्रस्तुति

दर्शन एवं धर्म विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा सेन्टर फॉर स्टडीज इन सिविलाइजेशन, शिमला के संयुक्त तत्त्वावधान में 22 एवं 23 नवम्बर 2014 को आयोजित राष्ट्रिय संगोष्ठी में डॉ. अशोक कुमार सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, ने 'Jaina concept of Science of Discrimination (Bhedvijñana) : Excellence of Spirituality' शीर्षक पर शोधपत्र प्रस्तुत किया तथा डॉ. राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने 23 नवम्बर को 'योग—बिन्दु में आध्यात्मिक विकास' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया।

## जैन-जगत्

### 1. प्रो. प्रेमी को जैन-आगम-मनीषा सम्मान

जैन विश्व भारती लाडनूं की ओर से जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के पूज्य आचार्य श्री महाश्रमण के विशाल संघ के सान्निध्य में एक अगस्त 2014 को अध्यात्म साधना केन्द्र महरौली, नई दिल्ली में आयोजित भव्य सम्मान समारोह में एम. जी. सरावगी फाउंडेशन कोलकाता द्वारा प्रायोजित वर्ष 2012 का महादेव लाल सरावगी जैन-आगम-मनीषा सम्मान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैन दर्शन विभाग के पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष तथा वर्तमान में बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के निदेशक (शैक्षिक) प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी को प्रदान किया गया।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के पूर्व अध्यक्ष प्रो. प्रेमी को इस सम्मान में प्रशस्तिपत्र, अंगवस्त्र एवं प्रतीक चिह्न के साथ ही एक लाख रुपये की सम्मान धनराशि का चेक जैन विश्वभारती, लाडनूं के अध्यक्ष श्री ताराचन्द रामपुरिया, उपाध्यक्ष श्री धर्मचन्द लुंकड, श्री बच्छराज नाहटा एवं न्यासी श्री प्यारे लाल पितलिया ने प्रदान किया।

### 2. शोक समाचार

**श्रीमती कमलाबाई जैन धर्मपत्नि डॉ. सागरमलजी जैन का संथारापूर्वक देहत्याग**

जैन धर्म-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रिय विद्वान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, के पूर्व निदेशक डॉ. सागरमल जैन (शक्करवाला) की धर्मपत्नि वरिष्ठ सुश्राविका श्रीमती कमलाबाई जैन का शाजापुर नगर (म.प्र.) में दिनांक 8 अक्टूबर 2014 शरद पूर्णिमा वि. सं. 2071 को प्रातः 4:45 बजे संथारापूर्वक देह-त्याग हुआ। आप 81 वर्ष की थीं। आपका जन्म भी फाल्गुन पूर्णिमा मार्च सन् 1934 को ही

हुआ था। आपकी अन्तिम यात्रा में शाजापुर, शुजालपुर, उज्जैन, इन्दौर तथा रतलाम नगर के बड़ी संख्या में समाजजन, नागरिकगण तथा प्रबुद्ध वर्ग के लोग सम्मिलित हुए और दिवंगत आत्मा के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये। आपने पूर्व में देहत्याग के पश्चात् नेत्र-दान का संकल्प लिया था, जिसे परिजनों ने पूर्ण किया।

इस दुःखद अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में स्व. कमलाबाई जैन के आत्मा की शान्ति हेतु शोक सभा आयोजित की गयी। दुःख की घड़ी में इनके परीवारजनों को दुःख सहन की क्षमता एवं आत्मबल प्रदान करने हेतु जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना की गयी। इस अवसर पर संस्थान के सचिव श्री इन्द्रभूति वरड़, उपाध्यक्ष श्री कुंवर विजयानन्द जी, डॉ. अशोक कु. सिंह, डॉ. राहुल सिंह, डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय, डॉ. ओमप्रकाश सिंह एवं श्री राजेश चौबे इत्यादि उपस्थित थे।

\*\*\*\*\*

## ग्रन्थ समीक्षा

1. निमाड़ी का भाषा विज्ञान, वर्ण और वर्तनी, मणिमोहन चवरे 'निमाड़ी, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद-2014, आकार डिमाई, पृ0 140, मूल्य, दो सौ रुपये मात्र, ISBN-8186907-97-1

मध्य प्रदेश का दक्षिण-पश्चिमी भू-भाग निमाड़ अंचल के नाम से जाना जाता है। यह क्षेत्र प्रदेश की अलीराजपुर, धार, इंदौर, होशंगाबाद, बैतूल तथा महाराष्ट्र के अमरावती, बुलढाना, जलगाँव, धुले और नंदूरबार जिलों से सीमाबद्ध है। पच्चीस हजार वर्ग किलोमीटर में फैले निमाड़ क्षेत्र में लगभग इकतीस लाख निमाड़ी भाषी लोग निवास करते हैं।

पिछले पैंतीस वर्षों में, विश्व में लगभग तेरह हजार बोलियाँ विलुप्त हो चुकी हैं। वर्तमान में, भारत में, आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-कुल की लगभग 570 भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें 122 भाषाएँ और 234 बोलियाँ तो अभी फल-फूल रही हैं किंतु बाकी 214 भाषाएँ मरणासन्न स्थिति में हैं। इनके बोलने वालों की संख्या तेजी से घट रही है। संविधान की आठवीं सूची में 22 भाषाएँ हैं जिनमें कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनको बोलने वालों की संख्या निमाड़ी-भाषियों के आधे से भी कम है। सरकारी फाइलों में नाम दर्ज करा लेने मात्र से भाषा का भला नहीं होता। भाषा को जीवित रखना है तो उसे कंठ से कलम तक कायम रखना होगा। यही सोच, 'निमाड़ी' का भाषा विज्ञान वर्ण और वर्तनी' की पूर्व-पीठिका में काम कर रही है।

प्रस्तुत ग्रंथ निमाड़ी लोकभाषा का अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान है। इसमें निमाड़ी के उद्भव, विकास और स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही भाषा के मानक तथा शुद्ध-अशुद्ध रूप को समझने का प्रयत्न किया है। वर्ण-समूह, निषिद्ध ध्वनियाँ, अयोगवाही विलंबित 'अ' के अलावा वर्ण और वर्तनी पर अध्ययन को केंद्रित किया गया है। इसमें निमाड़ी का समाज-भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्मिलित

112 : श्रमण, वर्ष 65, अंक 3-4/जुलाई-दिसम्बर 2014

है जिसके अंतर्गत मानक—अमानक रूप, वाग्दोष सुधार तथा भाषा और बोली को नए मानदंडों पर परखने का प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से—1. भारत की भाषाओं में निमाड़ी, 2. निमाड़ी का उद्भव एवं विकास, 3. निमाड़ी का स्वरूप, 4. निमाड़ी की सामान्य विशेषताएँ, 5. निमाड़ी में वर्तनी की समस्या, 6. निमाड़ी वर्णमाला, 7. निषिद्ध ध्वनियाँ, 8. निमाड़ी वर्णों का वर्गीकरण, 9. निमाड़ी स्वर ध्वनियाँ, 10. विचारणीय अशुद्धियाँ, 11. देशी—विदेशी भाषाओं के आगत शब्द के अतिरिक्त भाषा विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर निमाड़ी भाषा का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ भाषा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय है।

**डॉ० अशोक कुमार सिंह**

**2. मानव धर्म**, आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज, आगम प्रकाशन 5373 जैनपुरी, रेवाडी (हरियाणा), आशीर्वाद : आचार्य विद्यासागर जी महाराज, सम्पादक: प्रतिष्ठाचार्य विनोद कुमार जैन (रजवांस), संस्करण—पंचम, 2014, मूल्य, 60 रुपये, प्राप्ति स्थान : 1. श्री अजितप्रसाद जैन, 5373, जैनपुरी, रेवाडी, मो० 09896437271, 2. साहित्य सदन, श्री दि. जैन लाल मंदिर जी, चांदनी चौक, दिल्ली — 011—23253638

श्रमण और श्रावक जैन संस्कृति रूपी रथ के दो पहिये हैं। जिस प्रकार श्रमणों के आचार का समग्र निर्देशन करने वाला ग्रन्थराज मूलाचार है उसी प्रकार श्रावकों के आचार को बताने वाला सर्वोच्च ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार है। इसमें आचार्य समन्तभद्र ने सात अधिकारों में विभक्त 150 श्लोकों के माध्यम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जो निरूपण किया है वह सर्वातिशयी है। अल्प शब्दों में कहें तो जैन श्रावकाचार का यह आकर ग्रन्थ है।

बीसवीं सदी में शुष्क होती संस्कृत काव्यधारा को पुनरुज्ज्वित करने वाले "जयोदय महाकाव्य" जैसी कालजयी कृति लिखकर संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी को वृहच्चतुष्टयी बनाने पर आचार्य ज्ञानसागर

जी महाराज ने रत्नकरण्डश्रावकाचार पर मानवधर्म नाम से हिन्दी टीका लिखी थी बाद में उन्हीं आचार्य ज्ञानसागर जी के शिष्य सुविख्यात दिगम्बर-जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने रयणमंजूषा नाम से रत्नकरण्डश्रावकाचार का पद्यानुवाद किया। बैरिस्टर चम्पतराय जी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार का अंग्रेजी अनुवाद किया था, जो अनेक वर्षों से अप्राप्त था।

पूज्या आर्यिका दृढमती माता जी के रेवाडी चातुर्मास (1994) के अवसर पर रत्नकरण्डश्रावकाचार पर हुए उक्त कार्य को मूलश्लोकों के साथ प्रकाशन की योजना बनी तदनुसार यह मानवधर्म कृति प्रकाशित की गई। प्रथम संस्करण 1994 में प्रकाशित हुआ। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 2014 में 2200 प्रतियों का पंचम संस्करण मेरे सामने है। ग्रन्थ का मुद्रण, कागज, साज सज्जा सभी आकर्षक हैं। इससे पहले इस ग्रन्थ को पुस्तकाकार में प्रकाशित किया गया था, अब यह पंचम संस्करण ग्रन्थाकार में कथाओं सहित प्रकाशित किया गया है। अधिक से अधिक पाठकगण लाभान्वित हों इसलिये मूल्य लागत से भी कम रखा गया है। आशा है अन्य संस्करणों की तरह इसका भी विद्वज्जगत् तथा समाज में स्वागत होगा। इसके प्रकाशन में अहर्निश श्रम करने वाले श्री अजितप्रसाद जैन बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं। उनके प्रयास से ही जैन समाज के गौरव में अभिवृद्धि करने वाली हमारी कृति "जैन विरासत" प्रकाश में आई थी।

**डॉ. कपूरचंद जैन, डॉ० ज्योति जैन, खतौली (उत्तर प्रदेश)**

**3. इष्टोपदेश, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, आगम प्रकाशन, 5373, जैनपुरी, रेवाडी (हरियाणा), संस्करण : द्वितीय, 2014, मूल्य : 150 रूपये, प्राप्ति स्थल : 1. श्री अजित प्रसाद जैन, रेवाडी, मो. 09896437271, 2. साहित्य सदन, श्री दि.जैन लाल मंदिर जी, चांदनी चौक, दिल्ली, फोन : 01123253638**

सत्साहित्य, सद्दिचार, सदाचार कल्याणकारी उपदेश भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। सन्त का प्रत्येक उपदेश जीवनदायी होता है।



ऐसे सन्तों में आचार्य पूज्यपाद अग्रगण्य हैं! उनकी अनेक रचनाओं में इष्टोपदेश अपनी उपदेशात्मक शैली के कारण सुविख्यात है। अनेक स्थानों से इसका प्रकाशन हुआ है। अनेक परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में भी यह पढ़ाई जाती है। स्वाध्यायी भी इसका स्वाध्याय कर अपना कल्याण करते हैं। इसकी भाषा और भाव दोनों ही सरल और हृदयग्राही हैं। परमपूज्य दिगम्बर जैनाचार्य विद्यासागर जी महाराज ने इसका पद्यानुवाद करके इसे रामचरित मानस की तरह घर-घर में पहुँचा दिया है। बैरिस्टर चम्पतराय जी ने इसका अंग्रेजी अनुवाद "The Discourse Divine" नाम से किया है। अंग्रेजी अनुवाद के साथ यह कृति अब तक अप्राप्त थी। श्री अजितप्रसाद जैन, रेवाडी ने अथक परिश्रम करके आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत पद्यानुवाद एवं विवेचना जो कि अत्यन्त सरल एवं हृदयग्राही शब्दों में की गई है और बैरिस्टर चम्पतराय जी कृत अंग्रेजी अनुवाद सम्प्रति मूल के साथ प्रकाशित किया है इसके लिए जैन समाज को उनका आभार मानना चाहिए। ग्रन्थ का मुद्रण, कागज और सेटिंग आकर्षक है, जो प्रायः ऐसे ग्रन्थों में कम ही देखने में आता है। आगम प्रकाशन के पदाधिकारियों की यह गुरुभक्ति स्तुत्य और अनुकरणीय है। आशा है पाठक इसे पढ़कर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

**डॉ. कपूरचंद जैन, डॉ० ज्योति जैन, खतौली (उत्तर प्रदेश)**

\*\*\*\*\*

## OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

- |   |                      |
|---|----------------------|
| 1. Prakrit - Hindi Kośa<br>Edited by Dr. K.R. Chandra   | R 1200.00            |
| 2. Encyclopaedia of Jaina Studies<br>Vol. I (Art & Architecture)                                | R 4000.00, \$ 100.00 |
| 3. Jaina Kumāra Sambhavam<br>Dr. Neelam Rani Shrivastava  | R 300.00             |
| 4. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I -Vol. VII,  | R 1430.00            |
| 5. Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I -Vol. III<br>Dr. Shitikanth Mishra              | R 1270.00            |
| 6. Jaina Pratimā Vijñāna<br>Prof. M.N.P. Tiwari   | R 300.00             |
| 7. Jaina Dharma Darśana<br>Dr. Mohanlal Mehta   | R 200.00             |
| 8. Sthānakavāsi Jaina Paramparā Kā Itihāsa<br>Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar                 | R 500.00             |
| 9. Studies in Jaina Philosophy<br>Dr. Nathmal Tatia   | R 200.00             |
| 10. Theaory of Reality in Jaina Philosophy<br>Dr. J. C. Sikdar                                  | R 300.00             |
| 11. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy<br>H.V. Glasenapp                                     | R 150.00             |
| 12. Jainism: The Oldest Living Religion<br>Dr. Jyoti Prasad Jain                                | R 40.00              |
| 13. Scientific Contents in Prakrit Canons<br>Dr. N. L. Jain                                     | R 400.00             |
| 14. Pearls of Jaina Wisdom<br>Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey                        | R 120.00             |
| 15. Studies in Jaina Art<br>Dr. U.P. Shah   | R 300.00             |
| 16. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I<br>Editor : Dr. S. P. Pandey                  | R 500, \$ 40-00      |
| 17. Jainism in a Global Perspective<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey                 | R 400.00, \$ 19.00   |
| 18. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey   | R 500.00, \$ 20.00   |
| 19. Advanced Glossary of Jaina Terms<br>Dr. N. L. Jain  | R 300.00             |
| 20. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Parīśilana (Gujrati)<br>Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi | R 300.00             |
| 21. Jains Today in the World<br>Pierre Paul Amiel   | R 500.00             |
| 22. Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion)<br>Dr. N. L. Jain  | R 300.00             |
| 23. Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi)  | R 400.00             |